

मौसम

श्यामसुन्दर शर्मा



विज्ञान प्रसार

प्रकाशक

विज्ञान प्रसार

सी-24, कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया

नई दिल्ली-110 016

पंजीकृत कार्यालय : टेक्नोलॉजी भवन, नई दिल्ली-110 016

फोन : 26967532

फैक्स : 26965986

इंटरनेट : <http://www.vigyanprasar.com>

ई-मेल : vigyan@hub.nic.in

मौसम

लेखक : श्यामसुन्दर शर्मा

संपादक : डॉ. हरिकृष्ण देवसरे, डॉ. सुबोध महंती

शब्द संयोजन एवं पृष्ठ योजना : सुभाष चन्द्र

निर्माण समन्वयक : सुमिता सेन

© विज्ञान प्रसार

प्रथम संस्करण, 2003

ISBN 81-7480-104-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना पुस्तक

के किसी अंश का पुनः प्रकाशन अथवा फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग

या किसी अन्य तरीके से पुनः प्रयोग

नहीं किया जा सकता।

मुद्रक : रैक्मो प्रैस प्रा. लि., सी 59, औखला इ. एरिया, नई दिल्ली-110 01

फो. 26814886, 26810424, 26816282

मूल्य : 75.00 रुपए

विषय सूची

पृ.सं.

निदेशक की ओर से	iv
लेखकीय	v
1. मानव जीवन में मौसम का महत्त्व	01
2. मौसम क्या है	10
3. पवन : मंद समीर या भयावह चक्रवात	22
4. वर्षा, बादल और बिजली	39
5. वरुणदूत : मानसून	56
6. मौसम का अवलोकन और भविष्यवाणी	76
7. भारत में मौसम के पूर्वानुमान के प्रयास	91
8. मानसून का दीर्घकालीन पूर्वानुमान	96
9. क्या मनुष्य मौसम को बदल रहा है?	106

परिशिष्ट

(क) मौसम को प्रभावित करने वाली स्थानीय पवनें	118
(ख) बोफर्ट पैमाना	121
(ग) वायुदाब और ऊंचाई	123
(घ) परिभाषाएं	126

शब्दावली	134
----------	-----

निदेशक की ओर से

विज्ञान प्रसार, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विविध विषयों पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर रहा है। लोकप्रिय विज्ञान की कालजयी पुस्तकें, भारतीय विज्ञान सम्पदा, प्राकृतिक इतिहास, स्वास्थ्य, स्वयं करो आदि कुछ शृंखलाएं हैं जिन्हें अब तक प्रकाशित किया गया है। हमारा इस बात पर अधिक जोर रहा है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विविध पहलुओं पर हम उत्तम प्रकाशन, समान्य मूल्य में उपलब्ध कराएं। इसके अलावा विज्ञान प्रसार प्रमुख भारतीय भाषाओं के लिए प्रयत्नशील हैं।

प्रस्तुत पुस्तक “मौसम” एक ऐसे विषय पर है जिसका संबंध इस धरती पर रहने वाले सभी प्राणियों से है। इस पुस्तक में लेखक श्यामसुन्दर शर्मा ने आम आदमी को सरल भाषा में मौसम के बारे में वैज्ञानिक जानकारी देने का प्रयास किया है। इसमें ऋतुओं को उत्पन्न और नियंत्रित करने वाले मुख्य कारकों तथा मौसम के पूर्वानुमान की विधियों की जानकारी दी गई है और साथ ही मौसम हमारे दैनिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करता है। आशा है पाठक इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे और मौसम संबंधी अनेक अवैज्ञानिक भ्रांतियों का निराकरण करने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

नई दिल्ली

5 नवम्बर 2003

विनय बी. काम्बले

निदेशक, विज्ञान प्रसार

लेखकीय

मौसम को हमें सहन करना ही पड़ता है। अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक हम सदैव उससे प्रभावित होते रहते हैं। हम उसे बदल नहीं सकते। ज्यादा से ज्यादा हम उसके बारे में पूर्वानुमान लगाकर अपने भावी कार्यक्रमों को उसके अनुसार पुनः व्यवस्थित कर सकते हैं। इसीलिए मनुष्य अपने आदिकाल से ही आने वाले मौसम के बारे में अटकलें लगाता रहा है। उस समय की अटकलें भाग्यवशात् ही सही उतरती थीं और अब भी जब मनुष्य ने वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में कल्पनातीत प्रगति कर ली है तथा उसके पास इतने यंत्र और साधन उपलब्ध हैं तब भी मौसम संबंधी पूर्वानुमान अनेक बार सही सिद्ध नहीं होते। इसका प्रमुख कारण है मौसम को उत्पन्न और नियंत्रित करने वाले कारकों के बारे में जानकारी का अभाव। वास्तव में ये कारक अनेक हैं, इनका व्यवहार बहुत जटिल है परंतु इनकी परस्पर अंतःक्रियाएं तो जटिलतम हैं।

प्रस्तुत पुस्तक “मौसम” में मौसम को उत्पन्न और नियंत्रित करने वाले प्रमुख कारकों यथा सूर्य, पृथ्वी की विशेष आकृति और उस पर स्थित पर्वत, सागर जैसी संरचनाओं के बारे में जानकारी है। इसमें यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि ये कारक स्थायी और अस्थायी पवन तथा चक्रवात कैसे उत्पन्न करते हैं। बादल कैसे बनते हैं और उनसे वर्षा या हिमपात किन परिस्थितियों में होता है। बिजली (तड़ित) क्यों चमकती है और उसके क्या लक्षण हैं। मानसून पवन हमारे देश के लिए प्रकृति का वरदान है। उन पर ही हमारी आर्थिक व्यवस्था तथा खुशहाली निर्भर है। इसलिए उनके लक्षणों और कार्यकलापों की विस्तृत चर्चा की गई है। आगमन और उनसे होने वाली वर्षा के पूर्वानुमान लगाने की क्रियाविधि को विस्तार से समझाया गया है। साथ ही उनसे होने वाली वर्षा पर एकनीनो और लानीना के प्रभावों के बारे में जनमानस में प्रचलित भ्रांतियों को दूर करने की दृष्टि से उन कारकों की उत्पत्ति और लक्षणों की विस्तृत चर्चा है। मानसून संबंधी विशेष अनुसंधान कार्यक्रमों की भी चर्चा है।

पुस्तक में अनेक दृष्टांत देकर यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि मौसम हमारे दैनिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करता है और उसने अतीत में मानव इतिहास को किस प्रकार मोड़ दिए हैं। अब भी इतिहास को प्रभावित कर रहा है और भविष्य में भी करेगा। मौसम के पूर्वानुमान लगाने की क्रियाविधि कैसे संपन्न की जाती है इसकी चर्चा विश्वव्यापी स्तर पर सामान्यतः और भारत के संदर्भ में विशेष रूप से की गई है।

एक पूरा अध्याय मानवीय कृत्यों के मौसम पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों की चर्चा को समर्पित है। उसमें ओजोन छिद्र तथा ताप में वृद्धि जैसी घटनाओं के विवरण हैं।

यद्यपि आम पाठक की दृष्टि में रखकर पुस्तक की भाषा को सरल और शैली को सुबोध रखने का प्रयत्न किया गया है परंतु मौसम संबंधी जटिल वैज्ञानिक सिद्धांतों और प्रक्रमों के प्रस्तुतीकरण के बारे में कोई “समझौता” नहीं किया गया है। हो सकता है कि इस कारण पाठकों को कहीं-कहीं पुस्तक की भाषा कुछ अटपटी लगे।

आम पाठक की सुविधा की दृष्टि से पुस्तक में मौसम संबंधी तकनीकी शब्दों की परिभाषाएं, दाब और ऊंचाई के बीच संबंध, पवन की गति का बोफोर्ड पैमाना तथा कुछ प्रसिद्ध स्थानीय पवनो के बारे में परिशिष्टों के रूप में जानकारीयां दी गई हैं।

अब भी ऐसे व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक है जो हिंदी में वैज्ञानिक शब्दावली से भलीभांति परिचित नहीं हैं। उनकी सुविधा के लिए हिंदी-अंग्रेजी शब्दावली भी दी गई है।

पुस्तक की रचना में अनेक संस्थाओं और व्यक्तियों ने बहुत योगदान दिया। उन सबका मैं आभारी हूं। पुस्तक के लिए सामग्री एकत्रित करने में मदद के लिए मैं श्री चन्द्र प्रकाश, निदेशक, विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग, भारत सरकार का तथा तकनीकी तथ्यों को पुस्तक में सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने हेतु परामर्श देने के लिए डा. जगदीश बहादुर, भूतपूर्व कोऑर्डिनेटर, “विज्ञान प्रसार” का विशेष आभारी हूं।

श्यामसुन्दर शर्मा

अध्याय एक

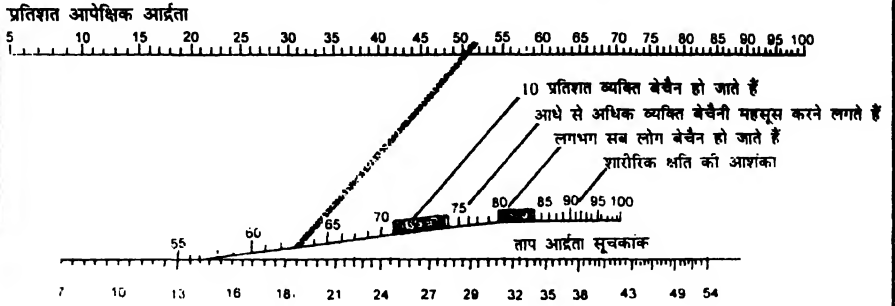
मानव जीवन में मौसम का महत्व

मौसम उन वस्तुओं में से है जिन्हें हमें सहन करना ही पड़ता है। हम कहीं भी रहते हों — पृथ्वी की सतह पर ही नहीं, उसके गर्भ में अथवा अंतरिक्ष में भी — मौसम के प्रभाव से बच नहीं सकते। अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक हमें उसके साथ ही रहना पड़ता है। हम उसमें किंचित मात्र भी परिवर्तन नहीं कर सकते। हम उससे प्रेम करें अथवा घृणा, उसे झेलने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई चारा नहीं होता। साथ ही हम उससे हमेशा प्रभावित होते रहते हैं। यदि सुबह उठते ही हमें आकाश स्वच्छ और नीला दिखाई देता है, उस समय न तो अधिक गर्मी होती है और न ही सर्दी, मंद बयार बह रही होती है तब हमारा मन अपने-आप प्रसन्न हो उठता है। हम अपनी परेशानियों को भूलने लगते हैं और शारीरिक व्याधियों की पीड़ा में कभी महसूस करने लगते हैं। इसके विपरीत अगर सुबह ही सुबह बहुत तेज बारिश हो रही हो, आंधी बह रही हो, बहुत ठंडी हवा चल रही हो या हवा एकदम बंद हो, तब अनायास ही हम छोटी-छोटी बातों पर भी झल्ला उठते हैं। हमें हर बात पर खीझ आने लगती है। किसी भी काम में हमारा मन नहीं लगता।

इसी प्रकार अगर दिन में तेज बारिश हो रही है अथवा तेज आंधी चल रही है तब हमें अपने कार्यों को किसी 'बेहतर दिन' के लिए टालना पड़ सकता है। अगर हमें किसी जरूरी काम की वजह से बाहर निकलना ही पड़ता है तब पूरी तैयारी के बावजूद भी हमें काफी मुश्किल का सामना करना पड़ जाता है। इसी प्रकार ठंडी रात अथवा तेज गर्म दोपहरी में भी हम, जहां तक हो सकता है, घर से बाहर कदम नहीं रखना चाहते। इसके विपरीत सुहाने मौसम में, वसंती रात में जब न ज्यादा गर्मी होती है और न ही अधिक सर्दी, लोग काफी देर तक बाहर घूमते रहते हैं। सर्दी के दिनों में, सुनहरी धूप में, लोग घंटों पार्क में बैठे रहते हैं या टहलते रहते हैं। सुहाने मौसम में कवि और लेखक तो झूम ही उठते हैं — उनके मस्तिष्क में अनायास ही उद्गार पैदा होने लगते हैं और उनकी लेखनी चलने के लिए मचल उठती है — आम आदमी भी, जो उन जैसा भावुक और संवेदनशील नहीं होता, मस्त हो जाता है। आज तक कोई भी ऐसा कवि नहीं हुआ जिसने चिलचिलाती धूप में अथवा गर्म और उमस भरी शाम को या ठिठुरती सर्द रात में शृंगार रस की कविता लिखी हो। ये मौसम उसके अच्छे-भले मूड को भी एकदम चौपट कर देते हैं।

वर्षा ऋतु में, विशेष रूप से आषाढ़-श्रावण के महीनों में (जुलाई-अगस्त के महीनों में), जब वातावरण का ताप 25° से अधिक हो जाता है और वायु में नमी की मात्रा काफी अधिक (आपेक्षिक

आर्द्रता 50 प्रतिशत से अधिक) हो जाती है, तब हम बेचैनी महसूस करने लगते हैं। जैसे-जैसे ताप और आर्द्रता बढ़ती जाती है, बेचैन हो उठने वाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ने लगती है। ताप के 32° से. से ऊपर हो जाने पर तो शारीरिक व्याधियां भी आरम्भ हो जाती हैं।



वायु के ताप और आपेक्षिक आर्द्रता में वृद्धि होते जाने से लोग बेचैनी महसूस करने लगते हैं। लगभग 18° से. ताप और 50 प्रतिशत तक आपेक्षिक आर्द्रता होने तक वायु सुखद लगती है। इन दोनों में वृद्धि होने से लोग बेचैन होने लगते हैं। चित्र 1

मौसम हमारे शरीर, मन और भावनाओं, सबको, प्रभावित करता है। भीषण गर्मी के बाद जब एकाएक वर्षा होने लगती है तब वायुमंडल का ताप भी तेजी से गिर जाता है। ताप के इस अचानक गिर जाने के प्रभाव हमारे शरीर पर भी पड़ते हैं। कुछ लोग, विशेष रूप से बच्चे, बूढ़े और शारीरिक रूप से कमजोर व्यक्ति, इस प्रभाव के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। वे जुकाम, बुखार, निमोनिया आदि के शिकार हो जाते हैं।

इसी प्रकार वर्षा ऋतु के बाद आश्विन और कार्तिक के महीनों में जब दिन में ताप काफी अधिक रहता है पर रात ठंडी होने लगती है, ज्वर फैलने हेतु लगभग 'आदर्श स्थिति' उत्पन्न हो जाती है।

सर्दी की ऋतु में जब हिमालयी क्षेत्र में जोरदार हिमपात हो जाता है उस समय "बर्फ पड़े शिमला में सर्दी दिल्ली में बढ़ जाए" कहावत के अनुसार न केवल दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्र में वरन् पूरे उत्तर भारत में शीत लहर आ जाती है और इस लहर के साथ ही आ जाती है ज्वर और निमोनिया की लहर।

ऐसा हमारे देश के विभिन्न भागों में ही नहीं वरन् संसार के अनेक क्षेत्रों में होता है। आमतौर से गर्म जलवायु वाले मध्य अमेरिकी पठार में 'नॉर्थर' (उत्तरी ठंडी पवन) के अचानक आ जाने से अनेक लोगों को घातक निमोनिया हो जाता है। उत्तर अमेरिका के समशीतोष्ण कटिबंधीय क्षेत्र के आरंभिक वसंत का पल-पल परिवर्तनशील मौसम, लोगों का सिरदर्द बन जाता है।

गिरता हुआ वायुदाब और अपराधों में वृद्धि

यद्यपि मनुष्य हमेशा ही अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं पर पड़ने वाले मौसम के प्रभावों को महसूस करता रहा है पर इन प्रभावों का गहन अध्ययन आरंभ हुआ उन्नीसवीं सदी में। इसका कारण कदाचित् यह था कि उससे पहले ऐसे अध्ययन करने हेतु साधन उपलब्ध ही नहीं थे। उन्नीसवीं सदी

तक विज्ञान और प्रौद्योगिकी की विभिन्न शाखाओं की समुचित प्रगति हो चुकी थी और उपयुक्त साधन उपलब्ध हो गए थे। इसलिए उस समय मौसम के बदलते तेवरों और मानवीय कार्यकलापों के बीच घनिष्ठ संबंधों पर गहन, योजनाबद्ध, अध्ययन आरंभ हुए। इनमें विभिन्न मौसमों में स्कूल की कक्षाओं में विद्यार्थियों के व्यवहार से लेकर पुस्तकालयों में पाठकों द्वारा गल्प पढ़ने में रुचि, युवक-युवतियों में कोर्टशिप और डेटिंग, मियां-बीबी की तकरार, लोगों के अनायास गुस्सा हो उठने की अथवा अपनी खीझ उतारने की प्रवृत्ति, आपसी मार-पीट, चोरी और डकैती की वारदातें तथा हत्या जैसे अनगिनत मानवीय कार्यकलापों का अवलोकन किया गया। उनसे जो परिणाम मिले वे अत्यन्त सनसनीखेज और अनुमानों से कहीं परे थे। उनमें पाया गया कि बैरोमीटर (वायुदाबमापी) के माप के गिरने और लोगों में चिड़चिड़ापन बढ़ जाने के बीच सीधा संबंध होता है। जैसे-जैसे बैरोमीटर का माप (वायुदाब) कम होता जाता है लोगों का चिड़चिड़ापन बढ़ता जाता है। अमेरिका के डा. एल्सवर्थ हटिंगटन ने अपनी पुस्तक 'मेनस्प्रिंग्ज् आफ सिविलिजेशन' में इन सब का बहुत रोचक वर्णन किया है। इस पुस्तक में उन्होंने ओ. ई. डेक्सटर के प्रयोगों का भी विस्तृत उल्लेख किया है। उनके अनुसार सूखे मौसम में स्कूल में बच्चों को अनुशासन में रखने के लिए नम मौसम की तुलना में पांच गुना अधिक प्रयास करना पड़ता है। नम मौसम में बच्चे अधिक आज्ञाकारी और विनम्र रहते हैं। वायुमंडल में नमी की कमी होने के साथ-साथ उनमें अनुशासनहीनता बढ़ने लगती है।

अन्य ऋतुओं की तुलना में लोग सर्दियों में गंभीर विषयों की पुस्तकें अधिक पढ़ते हैं। सर्दियों में रजाई के अन्दर घुस कर हल्की-फुल्की कहानियां पढ़ने का मन कम होता है।

मौसम और लोगों की हिसक प्रवृत्तियों के बीच के संबंधों के बारे में किए गए अध्ययनों से पता चला है कि कड़कड़ाती ठंड में अपराध, विशेष रूप से मार-पीट संबंधी अपराध, बहुत कम होते हैं। शायद हिसक प्रवृत्ति के व्यक्ति भी उस समय घरों के अंदर ही रहना अधिक पसंद करते हैं। पर जैसे-जैसे मौसम गरमाता जाता है हिसक प्रवृत्ति उग्र से उग्रतर होती जाती है। इसलिए जुलाई के महीने में मार-पीट, लूट-खसोट, हत्या आदि की वारदातें अधिक होती हैं। इस बारे में हमारे देश के उदाहरण भी दिए जाते हैं। पश्चिमी समाजशास्त्रियों के अनुसार वर्ष 1919 से 1941 के बीच भारत में हुए सांप्रदायिक दंगों में से एक-तिहाई अप्रैल से अगस्त तक के महीनों में ही हुए थे। ये महीने हमारे देश में, विशेष रूप से देश के उत्तरी भाग में, भीषण गर्मी और वर्षा के महीने होते हैं। इन महीनों में भी जून में, जब मानसून का आगमन होने लगता है और वायुमंडल का ताप एकदम गिर जाता है दंगों में कुछ कमी देखी गई है। पर जुलाई मास में दंगों की वारदातें फिर बढ़ती पायी गई हैं।

मनुष्य के कार्यकलापों पर पड़ने वाले मौसम के प्रभाव के बारे में एक विचित्र बात और भी है। मौसम चाहे कितना ही सुखद क्यों न हो, यदि वह लगातार कई सप्ताहों तक एक-सा बना रहता है तब भी लोग उससे ऊबने लगते हैं। वे उसमें परिवर्तन चाहने लगते हैं। अगर परिवर्तन नहीं होता तब भी उनका मूड निराशाजनक और उदास हो जाता है।

लंबे समय तक एक-सा रहने वाला मौसम शारीरिक दृष्टि से भी लाभदायी नहीं होता। उसके फलस्वरूप हमारा शरीर मौसम-परिवर्तनों के प्रति अधिक संवेदनशील हो जाता है। उस पर उनके अपेक्षाकृत अधिक तीव्र प्रभाव पड़ने लगते हैं।

फ्रांस के दक्षिणी भाग में लगातार बहने वाली कोष्ण और नम पवन 'वेन्त दु मिदि' को लोग सिर

दर्द, आमवातिक पीड़ा, मिरगी और दमा के दौरों के लिए जिम्मेदार ठहराते हैं। इसी प्रकार टेंजिअर (अफ्रीका) के निवासी भूमध्यसागर से आने वाली “लवेंतर” पवन को भी सिरदर्द और दमनकारी भावनाओं के लिए उत्तरदायी समझते हैं। अफ्रीका के उत्तरी भागों के निवासियों का मत है कि सहारा रेगिस्तान से आने वाली गर्म, धूलभरी पवन, “सिरोक्को” लोगों को इस हद तक डिप्रेस कर देती है कि वे आत्महत्या करने पर भी उतारू हो जाते हैं।

यदि लंबे समय तक एक से बने रहने वाले मौसम को बहुत उबाऊ, निराशाजनक और अनेक शारीरिक व्याधियों का कारण समझा जाता है तब मौसम में होने वाले अचानक परिवर्तन भी अनेक ‘गड़बड़ियां’ उत्पन्न कर देते हैं — विशेष रूप से उस समय जब परिवर्तन चक्रवातीय तूफान के रूप में होता है। इस प्रकार के परिवर्तन तीव्र एपेंडिसाइटिस, विभिन्न प्रकार की श्वसन व्याधियों और आत्महत्या तक की वारदातों में बहुत वृद्धि कर देते हैं।

वे लोग भी, जो स्वयं चक्रवात से प्रभावित नहीं होते, उसके आने से पहले की परिस्थितियों — वायु दाब में एकाएक कमी हो जाने और नमी की मात्रा में वृद्धि हो जाने — से प्रभावित होने लगते हैं। उन्हें महसूस होने लगता है कि इन परिस्थितियों में उनकी सामान्य मानसिक दक्षता कम हो गयी है। वे कोई कठिन मानसिक कार्य नहीं कर पाते। साथ ही उनमें “निरर्थकता” की भावना घर करने लगती है। इन परिस्थितियों में बच्चे जिद्दी हो जाते हैं और वयस्क झगड़ालू। ऐसे समय पति-पत्नी की तकरारें भी बढ़ जाती हैं। पर जैसे-जैसे वायु दाब बढ़ने लगता है, हवा ठंडी होने लगती है और उसमें नमी की मात्रा घटने लगती है लोगों की मानसिक स्थिति में सुधार होने लगता है।

प्राकृतिक आपदाएं और मौसम

समझा जाता है कि प्राकृतिक आपदाओं से होने वाली धन और जन की कुल हानि में से 60 प्रतिशत से भी अधिक मौसमी घटनाओं के कारण ही होती है। अगर भूस्खलनों और जंगल के अग्निकांडों से होने वाली हानि भी शामिल कर लें तब धन और जन की हानि का प्रतिशत बढ़कर 85 हो जाता है।

इस बारे में सबसे अधिक दुख की बात यह है कि प्राकृतिक आपदाओं से सबसे अधिक हानि विकासशील देशों में होती है। इन आपदाओं में काल के ग्रास बन जाने वाले व्यक्तियों में से नब्बे प्रतिशत विकासशील देशों के निवासी ही होते हैं। वर्ष 1991 में बांग्लादेश में आए एक चक्रवात ने 1,38,000 व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया था। इससे पहले 1942 में आए चक्रवात ने भी बंगाल में अत्यंत भीषण तबाही मचायी थी। वैसे 1977 में आंध्र तट पर आए और 1998 में कांडला (गुजरात) में आए चक्रवातों की तबाहिया अत्यंत लोमहर्षक थीं।

यदि चक्रवात और टोरनेडो के आतंक लोगों की नींद हराम कर देते हैं तो साल-दर-साल पड़ने वाले सूखों की याद आते ही लोग सिहर उठते हैं। रेगिस्तान में चलने वाली धूल भरी आंधियां, रूस जैसे ठंडे प्रदेशों में आने वाले बर्फीले अंधड़, कई दिनों तक लगातार होने वाली वर्षा, भीषण हिमपात आदि मौसम के ऐसे रूप हैं जिनसे मनुष्य सदा भय खाता रहा है।

इतिहास का निर्माता भी

मौसम केवल हमारे दैनिक कार्यकलापों को ही प्रभावित नहीं करता वरन् वह हमारे भोजन, वस्त्र,

रहन-सहन आदि के तरीकों और यहां तक कि हमारे स्वभाव को भी बदल देता है। ठंडे, बर्फीले प्रदेशों और गर्म क्षेत्रों के निवासियों के भोजन, वस्त्र और रहन-सहन के तरीकों में अत्यधिक अन्तर होता है। सूखे, मरुस्थल प्रदेश के लोग उस भांति नंगे बदन नहीं रह पाते जैसे भूमध्यरेखिक प्रदेशों के लोग, जहां वर्ष भर वर्षा होती है। कहा जाता है कि ब्रिटेन के निवासियों को अच्छा नाविक बनाने में वहां के उस मौसम का बहुत हाथ है जो उसके इर्द-गिर्द के सागरों को कड़ाके की ठंड में भी जमने नहीं देता। यह मौसम कोष्ण जलधारा, गल्फ स्ट्रीम, द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में लायी जाने वाली ऊष्मा के फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

गर्म और सूखे राजस्थान के लोगों का हठीला स्वभाव और उनकी जुझारु प्रकृति रेगिस्तान के मौसम का ही परिणाम है। बंगाल और केरल के निवासियों की संगीत तथा अन्य ललित कलाओं में रुचि की पृष्ठभूमि में वहां के मौसम का स्पष्ट आभास है।

मौसम "इतिहास का निर्माता" भी रहा है और उसने अनेक युद्धों को निर्णायक रूप से प्रभावित भी किया है। रूस के ज़ार का यह कथन कि "मेरे दो सेनापति, जनवरी और फरवरी, मुझे कभी धोखा नहीं देते" अतिशयोक्ति नहीं थी। वहां इन दो माहों में इतनी कड़ाके की ठंड पड़ती है कि अन्य ठंडे देशों के निवासी भी उसे सहन नहीं कर पाते। नेपोलियन, जिसे विश्व का सर्वाधिक कुशल सेनापति माना जाता था, अपनी विजय के उन्माद में ज़ार का यह कथन भूल गया और रूस को पूर्ण रूप से पददलित करने की इच्छा से आगे बढ़ता ही गया। अन्त में उसे इन रूसी "सेनापतियों" का सामना करना पड़ा और परिणाम हुआ उसकी सेना की भीषण तबाही और शर्मनाक वापसी। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर की सेनाओं को भी रूसी सर्दियों का शिकार होकर पीछे हटना पड़ा था और अंत में पराजय का मुंह देखना पड़ा था।

द्वितीय विश्वयुद्ध की ही एक और महत्त्वपूर्ण घटना को भी मौसम ने अत्यधिक प्रभावित किया था। वह थी मित्र सेनाओं का नॉरमंडी (फ्रांस के तट) पर अवतरण। वर्ष 1942 के बाद जर्मन सेनाओं को निरन्तर पीछे हटना पड़ रहा था और 1944 तक पीछे हटते-हटते वे यूरोप में ही वापस आ गयी थीं। उस समय मित्र राष्ट्रों ने "दूसरा" मोर्चा खोलने के उद्देश्य से नॉरमंडी में, जो उस समय तक जर्मनी के कब्जे में था, अपनी सेनाएं उतारने की योजना बनायी। वे मई, जून अथवा जुलाई महीनों में किसी भी समय जब मौसम उपयुक्त हो और सागर में ऊंचे ज्वार व लहरें न उठ रही हों, इस योजना को कार्यान्वित करना चाहते थे। इसलिए मित्र राष्ट्रों के उच्च कमान ने मौसम विशेषज्ञों से सलाह मांगी। इसके लिए उन्होंने दो तारीखें सुझायीं — 5 जून और 20 जून। उच्च कमान ने 5 जून को चुना। पर उस दिन सब पूर्वानुमानों को झुठला कर तेज तूफान आ गया। इसलिए सेना उतारने के कार्य को अगले दिन, यानी 6 जून, के लिए स्थगित कर दिया गया। पर उस दिन भी न तो आकाश साफ हुआ और न ही सागर शांत। इधर मित्र राष्ट्रों के उतावले सैनिकों को और नहीं रोका जा सकता था। इसलिए उस समय जब आकाश में घने बादल छाए हुए थे और सागर में ऊंची-ऊंची लहरें उठ रही थीं, मित्र सैनिक नॉरमंडी के तट पर उतर गए।

उधर जर्मन सैन्य अधिकारियों का यह अनुमान था कि ऐसे खराब मौसम में शत्रु सेनाएं नॉरमंडी के तट पर नहीं उतरेंगी। इसलिए वे मुकाबिले के लिए तैयार नहीं थे और उनके सतर्क होने से पहले ही मित्र राष्ट्रों की सेनाओं ने उन पर धावा बोल दिया। अंततः जर्मन सेनाओं को पीछे हटना पड़ा और

कुछ महीनों बाद उन्हें पूर्ण पराजय का भी मुंह देखना पड़ा।

बाद में मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनापति, आइजेनहावर ने अपनी विजय के लिए 6 जून 1944 के मौसम को "धन्यवाद" दिया।

वैसे इस बारे में मजेदार बात यह भी है कि मौसम विशेषज्ञों द्वारा सुझायी गई दूसरी तारीख (20 जून, 1944) को भी इतना जोरदार तूफान आया जितना पिछले 20 वर्षों में कभी नहीं आया था।

चीन और जापान में आने वाले चक्रवात "टाइफून" कहलाते हैं। ये हमारे देश में आने वाले चक्रवातों से कहीं अधिक विनाशकारी होते हैं। पर तेरहवीं शताब्दी के एक टाइफून ने जापान को गुलाम बनने से बचा लिया था। उस समय चीन में मंगोल बादशाह, कुबलई खां, का राज्य था। जापान को पददलित करने के इरादे से उसने उस पर आक्रमण कर दिया। अपने देश की रक्षा के लिए जापानी बहुत वीरता से लड़े और उन्होंने अपनी भूमि पर कुबलई खां के सैनिकों को उतरने नहीं दिया। उसी समय एक भयानक टाइफून आ गया। उसने कुबलई खां के जंगी जहाजों को डुबोना शुरू कर दिया। अंत में कुबलई खां के सामने अपनी हार स्वीकार करके पीछे लौटने के सिवाय कोई चारा नहीं बचा।

उसी समय से जापान में टाइफून को "कमीकाजे" (दैवी पवन) कहा जाने लगा। द्वितीय विश्व युद्ध में स्वयं की आहुति देकर शत्रु के जहाजों को डुबो देने वाले जापानी पायलटों को भी "कमीकाजे" कहा जाता था।

हमारे देश में भी ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं है जब मौसम ने युद्ध में निर्णायक भूमिका अदा की थी। शेरशाह ने हुमायूँ को हराने में मौसम की भी भरपूर मदद ली थी। जब हुमायूँ ने शेर खां (उस समय तक उसने 'शेरशाह' की उपाधि ग्रहण नहीं की थी) के विद्रोह को दबाने लिए बिहार पर आक्रमण किया तब शेर खां बंगाल की ओर भागता रहा। उसका पीछा करता हुआ हुमायूँ भी बंगाल में जा पहुंचा। उस समय बंगाल में वर्षा आरंभ हो गई। गंगा तथा अन्य नदियों में भयंकर बाढ़ आ गई और दिल्ली वापस जाने के सब रास्ते बंद हो गए। पर हुमायूँ निश्चित होकर वहां अड्डा जमाए रहा। अब शेर खां अपनी "मांद" से निकला और उसने हुमायूँ की सेना पर जोरदार आक्रमण कर दिया। युद्ध में हुमायूँ की सेना बुरी तरह पराजित हुई। स्वयं हुमायूँ भी अपनी जान बड़ी मुश्किल से बचा पाया। इतिहास साक्षी है कि वह गंगा में कूद पड़ा था और एक भिरती ने उसकी जान बचायी थी।

भीषण दुर्घटनाओं का कारण भी

सन् 1984 की 2 और 3 दिसंबर के बीच की रात में लगभग एक बजे एक अत्यंत विनाशकारी दुर्घटना घटी थी जिसने भारत में ही नहीं पूरे विश्व में तहलका मचा दिया था। उस रात भोपाल स्थित यूनियन कार्बाइड के कारखाने से जहरीली गैस, फास्जीन और मेथिल आइसोसायनेट निकलने लगी थीं। वे इतनी विशाल मात्रा में निकल रही थीं कि कुछ क्षणों में ही आसपास की घनी आबादी में पूरी तरह छा गयीं। वे खिड़कियों और दरवाजों की झिरियों से घरों में घुसने लगीं और सोते हुए आदमियों का, बिना किसी पूर्व-चेतावनी के, संहार करने लगीं। दम घुटने के प्रथम अहसास के बाद जिन लोगों ने ताजी हवा के लिए घरों की खिड़कियों और दरवाजे खोले उन्होंने तो निश्चय ही मौत को निमंत्रण दे दिया। इससे ये घातक गैस एकदम घरों में घुस आई और उन्होंने बहुत शीघ्रता से मनुष्यों को काल के गाल में पहुंचाना आरंभ कर दिया।

अगली सुबह तक जहरीली गैसों का 'भंडार' समाप्त हो गया था और वे वायुमंडल में पूरी तरह विलीन हो चुकी थीं। उनकी सांद्रता इतनी क्षीण हो गई थी कि वे और अधिक हानि नहीं पहुंचा सकती थीं। पर उस समय तक वे लगभग 2500 व्यक्तियों को मृत्यु की गोद में सुला चुकी थीं और लाखों व्यक्तियों को जीवन भर के लिए अपंग बना चुकी थीं। फलस्वरूप हजारों व्यक्ति आज भी (दुर्घटना के लगभग 18 वर्ष बाद भी) शारीरिक व्याधियां झेल रहे हैं और अपनी पूरी जिंदगी झेलते रहेंगे।

उक्त दुर्घटना के बारे में, विशेष रूप से उसके विस्तार के बारे में, अनेक अनुमान लगाए गए हैं। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि अगर दुर्घटना की रात को वर्षा हो रही होती अथवा आंधी चल रही होती तब उसके दुष्परिणाम इतने भयंकर नहीं होते। वर्षा के फलस्वरूप घातक गैसों पानी में घुलकर अथवा उसके साथ बहकर शीघ्र ही धरती पर आ जातीं और वायुमंडल उनसे मुक्त हो जाता।

इसी प्रकार यदि उस रात आंधी चल रही होती तब निश्चय ही ये गैसें दूर-दूर तक फैल जातीं — यूनिन कार्बाइड के आस पास के क्षेत्र में ही सांद्रित नहीं रहतीं। उस समय यद्यपि उनके प्रभाव कहीं बड़े क्षेत्र पर पड़ते पर वे इतने घातक नहीं होते जितने वास्तव में हुए।

यह तो हुआ एक अनुमान कि मौसम किसी मानवीय दुर्घटना के दुष्परिणामों को किस प्रकार कम कर सकता था पर ऐसे भी दृष्टान्तों की कमी नहीं है जब स्वयं मौसम ही दुर्घटनाओं का कारण बना है।

ठंडे प्रदेशों में सर्दियों में होने वाले हिमपात और हर जगह छा जाने वाले कोहरे के फलस्वरूप सड़क और रेल दुर्घटनाएं होती ही रहती हैं। वहां इनके कारण अन्य प्रकार की दुर्घटनाएं भी होती हैं। अनेक बार ये दुर्घटनाएं भीषण रूप धारण कर लेती हैं। दिसम्बर 1952 में कोहरे की मोटी-मोटी परतों ने पूरे लंदन शहर को ढंक लिया था और लगातार चार दिनों तक ढंके रखा। अंत में जब कोहरा छटा तब तक लगभग 4000 व्यक्ति मर चुके थे अथवा मृत्यु के कगार पर पहुंच चुके थे।

लंदन अथवा किसी अन्य शहर के कोहरे से लगातार कई दिनों तक आच्छादित रहे आने की यह पहली घटना नहीं थी, पर इस बार कोहरे में सल्फर डाइआक्साइड तथा अन्य विषैले पदार्थ भी मिल गए थे। इन्होंने लोगों के श्वसन तंत्र को घातक रूप से प्रभावित किया था।

हमारी देख सकने की क्षमता (दृश्यता) में स्वयं कुहरा तो बाधक बनता ही है पर जब उसमें मानव निर्मित धुआं भी मिल जाता है तब स्थिति और गंभीर हो जाती है। कोहरे और धुआं से बना "धूम-धुंध" (स्मॉग) केवल दृश्यता को ही अपेक्षाकृत बहुत कम नहीं करता वरन् हमारे श्वसन तंत्र को भी कुप्रभावित करने लगता है। यदि किसी वजह से धूम-धुंध में कारखानों और मोटर वाहनों से निकलने वाले सल्फर डाइआक्साइड, अमोनिया, हाइड्रोकार्बन, कार्बन डाइआक्साइड, आदि जैसे उच्छिष्ट भी मिल जाते हैं तब स्थिति घातकता की हद तक पहुंच जाती है। दुर्भाग्यवश वायु प्रदूषण में वृद्धि होने के साथ ऐसा अनेक बार हो जाता है।

अचानक हो जाने वाले हिमपात भी अनेक दुर्घटनाओं का कारण बनते हैं। उसके कारण ठंडे प्रदेशों में रेल मार्ग और सड़क रुक जाती हैं। पर्वतों के नीचे स्थित सुरंगें बंद हो जाती हैं और पर्वतीय प्रदेशों में भूस्खलन होने लगते हैं। पर्वतीय प्रदेशों में होने वाली तेज वर्षा भी भूस्खलन आरंभ कर देती है। ये भूस्खलन कितने विनाशकारी हो सकते हैं यह बात पहाड़ी क्षेत्र के किसी निवासी से पूछिए। भूस्खलन-प्रभावित इलाकों में धन और जन की तत्काल हानि तो होती ही है, उसके परोक्ष प्रभाव, बाढ़ आदि के रूप में, सुदूर मैदानी इलाकों पर भी पड़ते हैं। भीषण वर्षा, हिमपात आदि के कारण

हमारी अलकनंदा नदी (जो देव प्रयाग में भगीरथी के साथ मिलकर गंगा बनती है) के किनारे टूट-टूट कर अकसर ही उसमें गिरते रहते हैं। अनेक बार किसी बड़ी चट्टान के नदी में गिर जाने से उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इससे पानी का बहाव उस समय तक रुकता रहता है जब तक कृत्रिम झील नहीं बन जाती। परंतु उस समय तक पानी का बल भी बहुत अधिक हो जाता है। उसके समक्ष कृत्रिम झील के किनारे टिक नहीं पाते — टूट जाते हैं और पानी बहुत बड़ी मात्रा में और बहुत वेग से नीचे की ओर चल पड़ता है। इससे नदी के निचले भागों में भयंकर बाढ़ आ जाती है। अलकनंदा में इस प्रकार की बाढ़ें आती ही रहती हैं।

रेगिस्तानों में आने वाले धूल भरे अंधड़ भी पहाड़ी प्रदेशों की एकाएक आ जाने वाली वर्षा से कम भयानक नहीं होते। वे लोगों के दैनिक कार्यकलापों में तो बाधक होते ही हैं सड़कों और रेल मार्गों को भी रेत की मोटी चादर से ढक देते हैं। वे कच्चे मकानों की छतें उड़ा देते हैं, बड़े-बड़े पेड़ों को धराशायी कर देते हैं तथा जन-धन को बहुत हानि पहुंचाते हैं।

तेज वर्षा, भीषण हिमपात, आंधी, कुहरा आदि हानिकारी होते हैं पर चक्रवात और टारनेडो मौसम के अत्यंत विनाशकारी, रौद्र, रूप हैं। उनमें अत्यंत विशाल मात्रा में ऊर्जा समावेशित होती है और उस ऊर्जा का “दुरुपयोग” करके वे जितनी विनाश लीला मचाते हैं, उतनी कोई अन्य प्राकृतिक कारक नहीं मचाता। वे कोष्ण, उष्ण कटिबंधीय सागरों पर, जहां वायु में बहुत अधिक नमी मौजूद होती है और वह गुप्त ऊष्मा (ऊर्जा) से भरपूर होती है अचानक निम्न दाब की स्थिति बन जाने के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इनमें से अधिकांश सागर पर ही समाप्त हो जाते हैं पर कुछ तटीय प्रदेशों पर आ जाते हैं और अपना विनाशकारी तांडव नृत्य करने लगते हैं।

तूफान लाम-नएरु भी!

शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो तेज आंधी, तूफान या चक्रवात को पसंद करता हो — विशेष रूप से उस समय जब वह परीक्षा जैसे किसी गंभीर मानसिक कार्य में व्यस्त हो। ऐसे मौसम में जब कमरे से बाहर बहुत तेज हवाएं बह रही हों, मूसलाधार बारिश हो रही हो और पेड़ उखड़-उखड़ कर गिर रहे हों प्रश्न पत्र के उत्तर देना बहुत कठिन कार्य समझा जाता है। ऐसी परिस्थिति में यह आशा की जाती है कि अधिकांश परीक्षार्थी अपनी पूरी मानसिक क्षमता से प्रश्नों को हल नहीं कर पाएंगे और परीक्षा-परिणाम सामान्य से नीचे रहेगा। पर अनेक बार नतीजे इसके एकदम विपरीत पाए गए हैं।

काफी वर्ष पहले अमेरिका के न्यू इंग्लैंड इलाके में उक्त परिस्थितियों में ही एक परीक्षा हो रही थी। उस समय कमरे से बाहर लगभग 130 किमी. प्रति घंटे की गति से अंधड़ चल रहा था। आकाश काले बादलों से घिरा हुआ था। बादल बार-बार गरज रहे थे और रह-रह कर बिजली चमक रही थी। परीक्षा के परिणाम का सामान्य से नीचे रहने की पूरी उम्मीद थी परंतु वह आशा से कहीं अच्छा निकला। जहां 75 प्रतिशत परीक्षार्थियों के उत्तीर्ण होने की भी आशा नहीं थी वहां 96 प्रतिशत व्यक्ति उत्तीर्ण हो गए अर्थात् चक्रवात ने परीक्षार्थियों के लिए मानसिक “उत्तेजक” का कार्य किया।

ऐसा अनेक अवसरों पर पाया गया है। तो क्या वायुमंडल के दाब में परिवर्तन हमारे सोचने की क्षमता और भावनाओं को भी प्रभावित कर देता है? इसका एकदम सही उत्तर किसी के भी पास नहीं है। पर कुछ वैज्ञानिकों ने इस संबंध में अपने मत प्रकट किए हैं। इनमें सबसे अधिक मान्य मत के अनुसार इसका कारण है वायुमंडल में ऋण आवेशित आयनों की अधिकता।

जैसा कि आप जानते हैं आयन ऐसे परमाणु या मूलक होते हैं जिन पर आवेश होते हैं। निश्चय ही आयन धन आवेशित हो सकते हैं अथवा ऋण आवेशित। वैज्ञानिकों ने पाया है कि वायुमंडल में धनायनों और ऋणायनों का अनुपात 5 : 4 होता है अर्थात् ऋण आवेशित आयनों की अपेक्षा धन आवेशित आयनों की संख्या $1/4$ गुनी अधिक होती है। आयनों का यह अनुपात हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण होता है।

ऋणायनों में आक्सीजन के आयनों की संख्या काफी होती है और वे मनुष्य के लिए हितकारी होते हैं। धनायनों में कार्बन डाइआक्साइड के आयन काफी मात्रा में होते हैं जो मनुष्य के लिए हानिकारी होते हैं। वायुमंडल में धनायनों की संख्या में वृद्धि करने वाले कारकों में धूम-धुध, जीवाश्म ईंधनों का जलना, वातानुकूलन उपकरणों का प्रचालन आदि शामिल हैं। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार वायुमंडल में ऋणायनों की तुलना में धनायनों की अधिक मात्रा हमारे शरीर की अनेक क्रियाओं को मंद कर देती है। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है अगर वातावरण में ऋणायनों की मात्रा बढ़ा दी जाए तब हम अपेक्षाकृत अधिक स्फूर्ति से काम कर सकते हैं। इस निष्कर्ष की पुष्टि के लिए अनेक प्रयोग किए गए हैं। इन प्रयोगों में कुछ मनुष्यों को ऋणायनों के प्रवाह में रखा गया और बाद में उन्हें करने के लिए कुछ काम दिए गए। इससे पाया गया कि उनके देखने की क्षमता में वृद्धि हुई; उनका श्वसन तब बेहतर तरीके से कार्य करने लगा और वे बिना थके अधिक मेहनत कर सके।

इस बारे में यह भी सुझाया गया है कि वायुमंडल में होने वाली कुछ घटनाएँ स्वयं ही आयनों में "असंतुलन (ऋणायनों की तुलना में धनायनों की अधिकता) को दुरुस्त" करने का प्रयत्न करती हैं। उदाहरणार्थ तूफान आने के एकदम पहले वायुमंडल में धनायनों की मात्रा (कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा) बढ़ जाती है और तूफान के दौरान इसका उल्टा हो जाता है यानि ऋणायनों (आक्सीजन के आयनों) की मात्रा बढ़ने लगती है।

वैसे अब तक वैज्ञानिक निश्चयपूर्वक यह नहीं बता पाए हैं कि मौसम के बदलते तैवरों के साथ हमारी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं में परिवर्तन क्यों होते हैं। यद्यपि अनेक वैज्ञानिक इस रहस्य का उद्घाटन करने में प्रयत्नरत हैं परंतु यह कार्य अत्यंत जटिल और दुरूह है। इसमें बहुत श्रम और समय लगेगा। इसलिए उत्तर अब भी परिकल्पना के रूप में ही दिया जाता है।

वास्तव में वैज्ञानिक अब भी मौसम की अनेक गतिविधियों से अनभिज्ञ हैं। वे नहीं जानते कि किसी स्थान के मौसम में एकाएक ऐसे परिवर्तन क्यों हो जाते हैं जिनका वे अपने संपूर्ण ज्ञान की मदद से भी पूर्वानुमान नहीं लगा पाते। अनेक बार वे यह नहीं समझा पाते कि किसी स्थान पर एकाएक आंधी या तूफान क्यों आ जाता है; या तेज चक्रवात एकाएक क्यों थम जाता है अथवा हर चार-पांच वर्ष बाद मानसून कमजोर क्यों पड़ जाता है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम मौसम के बारे में उपलब्ध जानकारी को लेखा-जोखा लेने के प्रयत्न ही न करें। हम यह जानने के प्रयत्न न करें कि मौसम क्या है, उसको निर्धारित और नियंत्रित करने वाले कारकों के गुणधर्म क्या हैं? अकेले वे कैसे कार्य करते हैं और अन्य कारकों के साथ किस प्रकार अंतःक्रियाएं करते हैं, आदि, आदि। साथ ही हम अपने वरुणदूत, मानसून, से होने वाली वर्षा का पूर्वानुमान लगाने हेतु कौन से प्रयोग कर रहे हैं। साथ ही यह भी जानने की कोशिश न करें कि मौसम के पूर्वानुमान कैसे लगाए जाते हैं।

अध्याय दो मौसम क्या है?

मौसम का अर्थ है किसी स्थान विशेष पर, किसी खास समय, वायुमंडल की स्थिति। यहां “स्थिति” की परिभाषा कुछ व्यापक परिप्रेक्ष्य में की जाती है। उसमें अनेक कारकों यथा हवा का ताप, दाब, उसके बहने की गति और दिशा तथा बादल, कोहरा, वर्षा, हिमपात आदि, की उपस्थिति और उनकी परस्पर अंतःक्रियाएं शामिल होती हैं। ये अंतःक्रियाएं ही मुख्यतः किसी स्थान के मौसम का निर्धारण करती हैं। यदि किसी स्थान पर होने वाली इन अंतःक्रियाओं के लंबे समय तक, उदाहरणार्थ एक पूरे वर्ष तक, अवलोकन करके जो निष्कर्ष निकाला जाता है तब वह उस स्थान की “जलवायु” कहलाती है। मौसम हर दिन बल्कि दिन में कई बार बदल सकता है। पर जलवायु आसानी से नहीं बदलती। किसी स्थान की जलवायु बदलने में कई हजार ही नहीं वरन् लाखों वर्ष भी लग सकते हैं। इसीलिए हम ‘बदलते मौसम’ की बात करते हैं, ‘बदलती हुई जलवायु’ की नहीं। हम मौसम के बारे में ही समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं, रेडियो पर सुनते हैं और टेलीविजन पर देखते हैं।

मौसम लोगों के तेवर से लेकर इतिहास तक को प्रभावित कर सकता है जबकि जलवायु किसी जीवधारी के समूचे वंश को प्रभावित कर सकती है। जलवायु में होने वाले परिवर्तन जीव-जंतुओं के समूचे वंशों को ही समाप्त कर सकते हैं। अतीत में ऐसा अनेक बार हुआ भी है। ये परिवर्तन हिमयुगों के आगमन अथवा उनके समापन जैसी बड़ी घटनाओं के फलस्वरूप बहुत धीरे-धीरे ही प्रगट होते हैं।

यह निर्विवाद तथ्य है कि किसी स्थान का मौसम ही अंततः उस स्थान या क्षेत्र की जलवायु का निर्माण करता है। लंबे समय तक चलनेवाला मौसम ही जलवायु का रूप ले लेता है। उदाहरणार्थ उत्तर भारत में गर्मी की ऋतु में जलवायु गर्म और शुष्क रहती है; वर्षा गर्मी के अंत में होती है और सर्दियों में जलवायु ठंडी और शुष्क रहती है। हमारे तटीय प्रदेशों में जलवायु लगभग वर्ष भर गर्म और नम रहती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गर्मी में और सर्दी में महीनों में वर्षा कभी भी नहीं होती। उस वर्षा से सर्दी या गर्मी में मौसम बदल सकता है — जलवायु नहीं।

यद्यपि वायुमंडल के विभिन्न घटकों की पारस्परिक क्रियाओं के फलस्वरूप ही मौसम का निर्माण होता है पर इन घटकों की गतिविधियों को कुछ “बड़े तत्व” अत्यधिक प्रभावित करते हैं। वे इनको नियंत्रित करते हैं। ये तत्व हैं सूर्य, पृथ्वी और पृथ्वी की भौतिक संरचनाएं। ये भौतिक संरचनाएं हैं, पर्वत, घाटी, सागर, मरुस्थल आदि। वैसे स्वयं वायुमंडल की भी अपनी गतिविधियां हैं; उसके अपने स्वाभाविक गुण हैं। इन तत्वों में सबसे शक्तिशाली है सूर्य। इसलिए अपनी चर्चा सूर्य के ‘गुणगान’ से ही आरंभ करें।

सूर्य

सूर्य, हमारी आकाश-गंगा के अरबों तारों में से एक साधारण तारा है। वह जलती गैसों का गोला है और पृथ्वी से लगभग 15 करोड़ किमी. दूर स्थित है परंतु इसके बावजूद भी, वह पृथ्वी की हर जड़ और चेतन वस्तु को और लगभग हर प्राकृतिक घटना को, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, प्रभावित करता है। उसकी वजह से ही हमारी धरती पर जीवन है और वह इतनी हरी-भरी है।

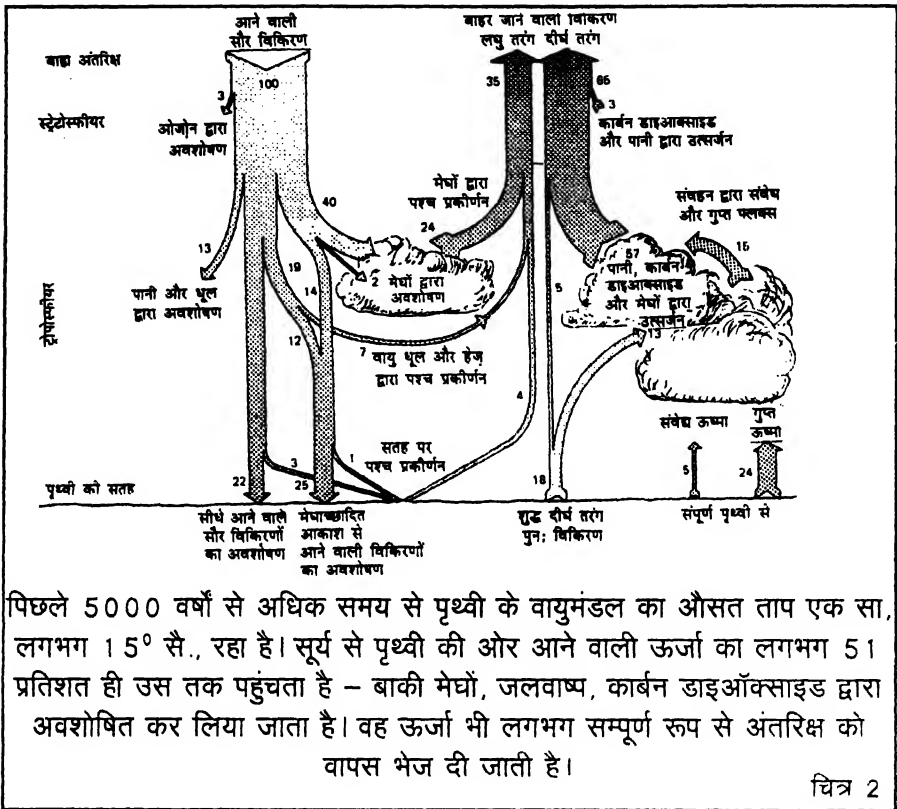
आकार में यह पृथ्वी से 13,06,000 गुना बड़ा है — उसका व्यास 13,90,440 किमी. है। जलती गैसों का गोला होने के फलस्वरूप उसके बाहरी भाग, फोटोस्फीयर, का ताप 6100° सै. है जबकि उसके आंतरिक भाग के ताप को $1,70,00,000^{\circ}$ सै. जैसा ऊंचा अनुमाना जाता है। पृथ्वी की तुलना में उसका वजन 3,33,420 गुना है।

सूर्य एक अत्यंत विशाल तापनाभिकीय भट्टी है जिसमें हाइड्रोजन 'जलकर', निरंतर हीलियम में परिवर्तित होती रहती है। वास्तव में सूर्य के आंतरिक भागों में संलयन क्रिया (फ्यूजन) से हाइड्रोजन हीलियम में बदलती रहती है। संलयन क्रिया विखंडन (फिशन) से एकदम विपरीत होती है। इसमें हल्के तत्वों के परमाणु आपस में संलयित होकर किसी भारी तत्व के (बड़े) परमाणु बनाते हैं। इस क्रिया में कुछ द्रव्य ऊर्जा में भी परिवर्तित हो जाता है जिससे बहुत बड़ी मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न होती है।

सूर्य अत्यधिक विशाल मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न करता है। पृथ्वी को उसका बहुत सूक्ष्म अंश — केवल एक बटे दो अरबवां अंश — ही प्राप्त होता है। फिर भी यह ऊर्जा 23×10^{12} अर्थात् 230 खरब अश्व शक्ति (170 खरब किलोवाट) प्रति मिनट के तुल्य है। यह ऊर्जा की उस मात्रा से कहीं अधिक है जो हम किसी भी रूप में एक पूरे वर्ष में इस्तेमाल करते हैं। यदि इस मात्रा में 13 प्रतिशत की भी कमी हो जाए तो संपूर्ण पृथ्वी 1 मील (1.6 किमी.) मोटी बर्फ की तह में डंक जाए और अगर कहीं इसमें 30 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हो जाए तब पृथ्वी पर जीवन के सब रूप जलकर खाक हो जाए।

सूर्य से हमें ऊर्जा, तीन प्रकार की विद्युतचुंबकीय तरंगों के रूप में, प्राप्त होती है। ये तरंगें हैं पराबैंगनी किरणें (तरंग दैर्घ्य 0.000001 से 0.000041 सेमी. तक), दृश्य प्रकाश किरणें (तरंग दैर्घ्य 0.000041 से 0.000076 सेमी. तक) और अवरक्त किरणें (तरंग दैर्घ्य 0.000076 से एक सेमी. तक)। पराबैंगनी और अवरक्त किरणों में हम वस्तुओं को देख नहीं सकते। फिर भी वे हमारे लिए बहुत उपयोगी हैं। सूर्य से पृथ्वी की ओर आने वाली ऊर्जा का लगभग आधा भाग ही पृथ्वी की सतह तक पहुंच पाता है। जितनी सौर ऊर्जा वायुमंडल की ऊपरी सतह पर पहुंचती है उसका लगभग 35 प्रतिशत भाग, अपने मूल रूप में — लघु तरंगों के रूप में — बादलों, सूक्ष्म धूल कणों, गैसों के अणुओं आदि द्वारा प्रकीर्णित और परावर्तित कर दिया जाता है। इसलिए वह ऊर्जा न तो पृथ्वी की सतह को गर्म करने में इस्तेमाल होती है और न ही वायुमंडल को।

पृथ्वी की ओर आने वाली सौर ऊर्जा का बाकी भाग किरणों के रूप में वायुमंडल में से गुजरता है। उसका लगभग 14 प्रतिशत भाग वायुमंडल में उपस्थित धूल कणों, जल वाष्प, ओजोन और कार्बन डाइआक्साइड जैसे रचकों द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। इस सब के बाद जो सौर ऊर्जा बचती है (लगभग 51 प्रतिशत), वह धरती की सतह पर पहुंचती है। इसका अधिकांश भाग (लगभग 34 प्रतिशत) प्रकाश ऊर्जा के रूप में होता है और बाकी 17 प्रतिशत विसरित प्रकाश के रूप में।



जब सौर किरणें चट्टान, रेत, मिट्टी, जल आदि से टकराती हैं तब उनमें निहित अणु गतिशील हो जाते हैं। अणुओं के गतिशील होने से ऊर्जा का वह रूप मिलता है जिसे हम 'ऊष्मा' कहते हैं। जिस वस्तु के अणु जितनी तेजी से गति करते हैं वह हमें उतनी ही गर्म महसूस होती है। दूसरे शब्दों में यदि कोई वस्तु ठंडी है तब उसके अणुओं की गति अपेक्षाकृत धीमी है। किसी वस्तु के ताप को कम करते जाने से उसके अणुओं की गति भी कम होती जाती है। वैज्ञानिकों के अनुसार किसी वस्तु का ताप परम शून्य ($-273.16^{\circ}\text{से.}$) जैसा निम्न कर दिए जाने पर उसके अणुओं की गति एकदम समाप्त हो जाती है।

वैसे गतिशील अणुओं पर सौर ऊर्जा के आपतन का एक और परिणाम होता है स्वयं अणुओं द्वारा ऊर्जा की कुछ मात्रा को वापस भेज देना। ये परावर्तित किरणें अवरक्त किरणों जैसी दीर्घ तरंगदैर्घ्य वाली होती हैं - लघु तरंगदैर्घ्य वाली नहीं। ये दीर्घ किरणें अपने मार्ग में आने वाले अणुओं को उत्तेजित कर देती हैं। इस प्रकार पूरी पृथ्वी ही ऊष्मा की एक अत्यंत विशाल विकरक (रेडिएटर) बन जाती है।

पृथ्वी के हर क्षेत्र से अथवा उसकी हर वस्तु से ऊष्मा का विकिरण समान रूप से नहीं होता। उसकी नदियां, पर्वत, सागर, रेतीले मैदान आदि एक सी मात्रा में न तो ऊष्मा पैदा करते हैं और न ही उसे अवरक्त किरणों के रूप में विकिरित करते हैं। इसीलिए अनेक गर्म क्षेत्रों के बीच में ठंडे

स्थल बन जाते हैं। इसी कारण एक ही स्थान पर रात और दिन के तापों में अंतर आ जाता है। थल और सागर के ताप भिन्न-भिन्न हो जाते हैं और भूमध्यरेखिक प्रदेशों और ध्रुवीय क्षेत्रों के तापों में इतना अंतर आ जाता है। तापों का यह अंतर वायुमंडल की विशाल मशीनरी को गतिशील कर देता है। वायुमंडल की हलचल मौसम का निर्माण करती है; उसका निर्धारण करती है।

पृथ्वी

मौसम का निर्माण करने वाले या उसे प्रभावित करने वाले कारक के रूप में पृथ्वी की स्थिति पूर्णतः सूर्य पर निर्भर नहीं है। इस बारे में स्वयं उसका भी महत्वपूर्ण योग है। सौर परिवार के एक सदस्य के रूप में उसमें भी स्वयं के ऐसे गुण मौजूद हैं जो उस पर मौसम का निर्माण करते हैं। सूर्य के चारों ओर 96.6 करोड़ किमी. की दीर्घवृत्तीय कक्षा में परिक्रमा करने के अतिरिक्त वह स्वयं भी अपनी धुरी पर, पश्चिम से पूर्व की ओर, लगभग 1690 किमी. प्रति घंटे की दर से, घूमती है। पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना ही बहती हुई पवन और जलधाराओं की दिशाओं का निर्धारण करता है। ये दोनों कारक भी मौसम को प्रभावित करते हैं।

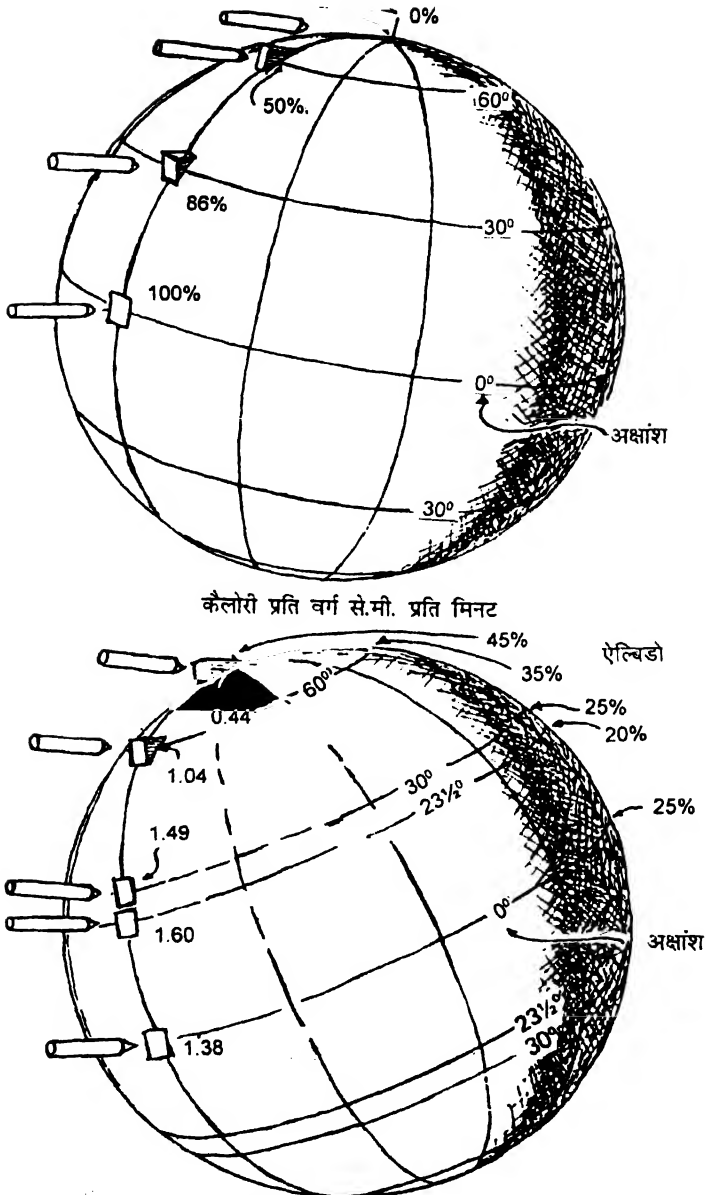
मौसम को प्रभावित करने वाला पृथ्वी का एक अन्य गुण है उसकी विशेष आकृति। वह एक ऐसी गेंद के समान है जो ध्रुवों पर थोड़ी चपटी है। इस प्रकार पृथ्वी की आकृति नासपाती के सदृश्य हो गयी है और यह भी उसके विभिन्न क्षेत्रों के तापों में अंतर के लिए उत्तरदायी है।

पृथ्वी की विशिष्ट आकृति के कारण सौर किरणें उसके हर क्षेत्र पर एकसमान तीव्रता से नहीं पड़तीं। उसके मध्य भाग में, भूमध्यरेखा के आस-पास के क्षेत्र में, उनकी तीव्रता सबसे अधिक होती है। जैसे-जैसे मध्य भाग से ऊपर (उत्तर) और नीचे (दक्षिण) की ओर बढ़ते हैं उनकी तीव्रता कम होती जाती है। ध्रुवों तक पहुँचते-पहुँचते वह अत्यंत क्षीण हो जाती है। साथ ही उत्तर और दक्षिण की ओर जाते समय सौर किरणों द्वारा तय की जाने वाली दूरियाँ भी बढ़ती जाती हैं। इन कारणों से भूमध्यरेखा के आसपास वाले क्षेत्रों में बहुत अधिक गर्मी पड़ती है। उत्तर अथवा दक्षिण की ओर जाते समय वह कम होती जाती है और ध्रुवों तक पहुँचते-पहुँचते लगभग नगण्य हो जाती है। इसलिए ध्रुवीय प्रदेश सदैव बर्फ से आच्छादित रहते हैं।

पृथ्वी की एक और विशेषता है उसकी धुरी का झुकाव। उसकी धुरी उसके परिक्रमा पथ के तल से $23\frac{1}{2}^{\circ}$ के कोण पर झुकी हुई है। यह झुकाव पृथ्वी पर पड़ने वाली सूर्य की किरणों को भी प्रभावित करता है। इस झुकाव की वजह से ही पृथ्वी का एक गोलार्द्ध छह माह तक सूर्य की ओर झुका रहता है और अगले छह मास तक दूसरा गोलार्द्ध। यह क्रम निरंतर चलता रहता है। इसके फलस्वरूप ही ऋतुएं—वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर — उत्पन्न होती हैं।

पृथ्वी की धुरी के झुकाव के कारण ही उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्धों में वर्ष के एक ही समय अलग-अलग ऋतुएं होती हैं। जब उत्तरी गोलार्द्ध में भीषण गर्मी पड़ रही होती है तब दक्षिणी गोलार्द्ध में लोग ठंड से ठिठुर रहे होते हैं और जब उत्तरी गोलार्द्ध में सर्दी की ऋतु आ जाती है तब दक्षिणी गोलार्द्ध में गर्मी पड़ती है।

मौसम का निर्माण करने वाली और उसको प्रभावित करने वाली पृथ्वी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भौतिक संरचनाएं हैं — सागर और पर्वत।



पृथ्वी के वायुमंडल को प्राप्त होने वाली सौर विकिरण: (ऊपर) 23 सितंबर को उत्तरी गोलार्द्ध के विभिन्न अक्षांशों पर प्राप्त होने वाली सौर विकिरण। (नीचे) 23 जून को, जब सूर्य की किरणें कर्क रेखा पर लंबवत पड़ती हैं, विभिन्न अक्षांशों पर प्राप्त होने वाली सौर ऊर्जा।

सागर : सागर पृथ्वी के लगभग 71 प्रतिशत भाग को घेरे हुए है और उसमें संपूर्ण पृथ्वी के जल भंडार का 97 प्रतिशत भाग भरा हुआ है। उससे ही वह जल वाष्प बनती है जो वर्षा के रूप में बरसती है; उसमें ही सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊर्जा का बड़ा भाग संचयित होता है जो जलवायु को प्रभावित करता है। उसी में वे धाराएं विद्यमान हैं जो संचयित सौर ऊर्जा के बहुत बड़े भाग को पृथ्वी के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को स्थानांतरित करती हैं और उससे ही समय-समय पर वायुमंडल में गैसों की पूर्ति होती रहती है।

सागर का थल और वायुमंडल के साथ अटूट संबंध है। वायुमंडल का लगभग तीन-चौथाई भाग सागर के ऊपर ही स्थित है। इसलिए उस पर सागर का प्रभाव पड़ना अवश्य-भावी है। वास्तव में सागर को "वायुमंडल की स्मृति" कहा जाता है।

वायुमंडल मुख्य रूप से नीचे से गर्म होता है पर सागर ऊपर से। सागर के पानी में निरंतर हलचल होते रहने से सौर ऊर्जा काफी गहराई तक, लगभग 100 मीटर गहराई तक, प्रवेश कर जाती है। सागर के जल के ताप में वृद्धि उसकी स्थिति (वह किन अक्षांशों के बीच स्थित है), मौसम तथा जलधाराओं पर निर्भर करती है। साथ ही उसके जल के दिन और रात के तापों में बहुत अंतर नहीं होता।

सौर ऊर्जा उसकी ऊपरी सतह पर ही आपतित होती है। इसलिए सतह का ताप ही सबसे अधिक होता है। सतह से तली की ओर जाते समय ताप में तेजी से कमी होती जाती है पर लगभग 500 मीटर गहराई पर — "थर्मोक्लाइन क्षेत्र" में पहुंच जाने पर — ताप का घटना रुक जाता है। उसके नीचे पानी का ताप लगभग स्थिर रहता है। यद्यपि भौतिकी के एक प्रसिद्ध नियम के अनुसार सागर की तली के पानी का ताप 4° सै. रहना चाहिए परंतु वास्तव में उसका ताप — 1° सै. जैसा नीचे हो जाता है।

सौर ऊर्जा और सागर पर से बहती हुई पवन जल में लहरें उत्पन्न करती हैं जबकि विभिन्न क्षेत्रों के जलों की लवणताओं में अंतर और पवन जलधाराओं को जन्म देती हैं तथा चंद्रमा और सूर्य के गुरुत्वाकर्षण ज्वार-भाटा पैदा करते हैं।

कोष्ण जलधारा सागर के ताप को नीचे नहीं गिरने देती और ठंडी जलधारा निकटवर्ती सागर के ताप को उससे कहीं नीचे गिरा देती है जितना वह अन्यथा गिरता।

भूगोलवेत्ताओं के अनुसार सागर की जलधाराओं के बहने का एक विशेष नियम है। निचले अक्षांशों में (भूमध्यरेखा से लेकर 40° उत्तर और 40° दक्षिण अक्षांशों तक) कोष्ण जलधाराएं महाद्वीपों के पूर्वी तट के निकट से बहती हैं और ठंडी जलधाराएं पश्चिमी तट के निकट से। मध्य और उच्च अक्षांशों में स्थित इसके विपरीत होती है। वहां महाद्वीपों के पूर्वी तट के निकट से ठंडी जलधाराएं और पश्चिमी तट के निकट से कोष्ण जलधाराएं गुजरती हैं।

इसीलिए उष्ण और उपोष्ण कटिबंधों में महाद्वीपों के पूर्वी तट की जलवायु अकसर कोष्ण और नम होती है। दूसरी ओर मध्य और उच्च अक्षांशों में — समशीतोष्ण और शीत कटिबंधों — में निकट के सागर से ठंडी जलधाराओं के गुजरने से महाद्वीपों के पूर्वी भाग और ठंडे हो जाते हैं। वहां गर्मी की ऋतु में मौसम अधिक सुखद रहता है। तटीय प्रदेश पर जलधारा के प्रभाव उसी समय पड़ते हैं जब पवन सागर से थल की ओर बहती है। पश्चिम से पूर्व की ओर, उत्तरी (कोष्ण) अंध महासागर पर से आने वाली पश्चिमी पवन ही उत्तर-पश्चिमी यूरोप को जनवरी के महीने में उन्हीं अक्षांशों पर स्थित

अन्य क्षेत्रों की तुलना में 15 से 20° सै. अधिक गर्म रखती है।

पर्वत : जलवायु विभाजक : जलवायु विभाजक पर्वत मौसम संबंधी अनेक प्रकार की घटनाओं को प्रभावित कर सकते हैं। वे तड़ित झंझा, विक्षोभ और पर्वत तरंग उत्पन्न कर सकते हैं; जेट प्रवाह को विभाजित अथवा त्वरित कर सकते हैं; बर्फ के संचयन में मदद दे सकते हैं और वायु के बहने के पैटर्न को 'विकृत' कर सकते हैं।

जलवायु की दृष्टि से किसी क्षेत्र में पर्वतों की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण होती है। उस क्षेत्र का पर्वत पर स्थित होना (सागर तल से ऊँचाई पर स्थित होना) तो मौसम को प्रभावित करता ही है साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि यह पर्वत के किस ढाल – पवनाभिमुख (विंडवर्ड) ढाल अथवा प्रतिपवन (लीवर्ड) ढाल – पर स्थित है।

किसी स्थान की जलवायु को निर्धारित करने वाले कारकों की चर्चा करते समय मौसमवैज्ञानिक और भूगोलवेत्ता अक्सर ही क्विटो शहर का उदाहरण देते हैं। क्विटो दक्षिण अमेरिका के इक्वेडोर देश की राजधानी है और भूमध्यरेखा पर स्थित है। इसलिए उसकी जलवायु को सामान्यतः वर्ष भर गर्म और आर्द्र रहना चाहिए और वहाँ सर्दी की ऋतु होनी ही नहीं चाहिए। परंतु क्विटो एंडीज पर्वत की एक चोटी पर स्थित है जिसकी सागर तल से ऊँचाई काफी अधिक है। इसलिए सर्दी की ऋतु में वहाँ वायुमंडल का ताप इतना गिर जाता है कि पानी जमने लगता है।

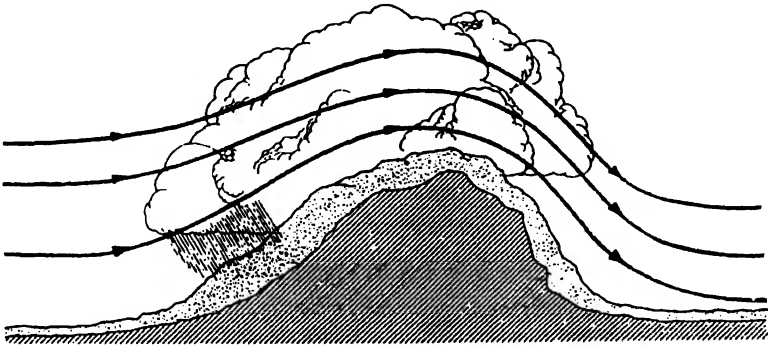
इसी प्रकार हिमालय के अक्षांशों में ही स्थित मैदानी इलाकों में सर्दियों में ताप इतने नीचे नहीं गिरता कि पानी जम जाए। आप जानते ही हैं कि हिमालय की अधिकांश चोटियाँ सदैव बर्फ से ढकी रहती हैं। इसका कारण हिमालय की ऊँचाई ही है।

ऊँचे पर्वत पर स्थित होने के फलस्वरूप किसी स्थान की जलवायु के अपेक्षाकृत अधिक ठंडी हो जाने का एक मुख्य कारण है धरती की सतह से परावर्तित होने वाली सौर ऊर्जा की काफी मात्रा का उस स्थान तक न पहुँच पाना। बादल और धूलकण जो वायुमंडल में अपेक्षाकृत कम ऊँचाई पर उपस्थित होते हैं, अंतरिक्ष की ओर परावर्तित होने वाली ऊर्जा की काफी मात्रा को, पुनः धरती की ओर परावर्तित कर देते हैं। इसलिए ऊँचे क्षेत्र मैदानी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक ठंडे रहते हैं। सर्दियों में अनेक ऊँचे क्षेत्रों में जलाशय जम कर बर्फ में परिवर्तित हो जाते हैं। यह बर्फ उस क्षेत्र के ताप को और कम कर देती है क्योंकि बर्फ का ऐल्बिडो काफी अधिक, $70-90$ प्रतिशत तक, होता है, अर्थात् बर्फ उस पर पड़ने वाली सौर ऊर्जा के $70-90$ प्रतिशत भाग को परावर्तित कर देती है। इससे ऊँचे पर्वतों पर धरती की सतह बहुत कम गर्म हो पाती है। धरती की सतह के बहुत कम ऊष्मा प्राप्त करने के कारण उसके द्वारा परावर्तित की जाने वाली ऊर्जा की मात्रा भी कम होती है। फलस्वरूप धरती की सतह से परावर्तित होने वाली दीर्घ तरंगों से ऊँचे पर्वतों का वायुमंडल भी अपेक्षाकृत कम गर्म हो पाता है। ऊँचे पर्वतों पर वायुमंडल का दाब भी अपेक्षाकृत कम होता है।

किसी क्षेत्र की जलवायु पर उसके निकटवर्ती पर्वत की दिशा का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। हमारे देश की उत्तरी सीमा बनाने वाला पर्वतराज, हिमालय, पूर्व-पश्चिम दिशा में स्थित है। अपनी स्थिति के फलस्वरूप ही वह गर्मी की मानसून पवन को तिब्बत में नहीं जाने देता तथा उनके संपूर्ण जलवाष्प भंडार को अपनी तलहटी में ही रिक्त करा देता है। इसी वर्षा के फलस्वरूप गंगा-यमुना के कछार में पर्याप्त वर्षा होती है और उत्तर की नदियों को पानी मिलता है। साथ ही उस बर्फ के लिए

भी पानी मिलता है जो हिमालय की चोटियों पर सदा जमी रहती है। इस वर्षा की वजह से ही हिमनदियां बनती हैं।

हिमालय की पूर्व-पश्चिम दिशा में स्थिति यदि मानसून पवन को भारत से बाहर नहीं जाने देती तो वह साइबेरिया और मध्य एशिया की बर्फीली पवन को भारत में आने भी नहीं देती। हिमालय की विशेष स्थिति के फलस्वरूप ही भारत की जलवायु इतनी सुखद है और तिब्बत की इतनी विषम। मौसम-वैज्ञानिकों के अनुसार दक्षिण-पूर्वी एशिया में गर्मी में मानसून की प्रबलता का श्रेय मुख्य रूप से हिमालय की विशेष स्थिति को ही है।



पर्वत को पार करते समय जलवाष्पयुक्त वायु पर्वत के पवनाभिमुख बाजू पर ही वर्षा करती है। पर्वत के दूसरे बाजू तक पहुंचने पर लगभग सूखी हो जाती है।

चित्र : 4

हमारे देश के ही दो अन्य पर्वतों, पश्चिमी घाट और अरावली की स्थितियां भी अपने निकटवर्ती क्षेत्रों की जलवायु की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। पश्चिमी तट के एकदम निकट, उत्तर-दक्षिण दिशा में, लगभग 1000 किमी. तक फैले पश्चिमी घाट की ऊंचाई 1 से 1.5 किमी. तक है परंतु वह दक्षिण-पश्चिम से आने वाली गर्मी की मानसून के मार्ग में "बाधा" उत्पन्न कर देता है। उसे पार करने के लिए इस पवन को ऊपर उठना पड़ता है और इस कोशिश में वह अपने जलवाष्प भंडार के बड़े भाग को वर्षा के रूप में त्याग कर लगभग "सूखी" हो जाती है। पश्चिमी तट पर स्थित मुंबई को वर्ष भर में लगभग 190 सेमी. वर्षा मिलती है, खंडाला जो 540 मीटर ऊंचाई पर स्थित है, 460 सेमी. और मुंबई से केवल 130 किमी. दूर, परंतु पश्चिमी घाट के दूसरी ओर (प्रतिपवन ढाल पर), स्थित पुणे को मात्र 50 सेमी.।

यद्यपि अरब सागर से आने वाली गर्मी की मानसून राजस्थान के ऊपर से गुजरती हैं पर नमी के विशाल भंडार को संजोए रखने के बावजूद वह वहां बहुत कम वर्षा करती है। इस अल्प वर्षा के लिए, बहुत हद तक अरावली पर्वत की स्थिति उत्तरदायी है। वह उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित है और मानसून के मार्ग में बहुत कम "बाधा" डालता है। फिर भी अरावली का दक्षिणी भाग कुछ हद तक मानसून पवन को वर्षा करने के लिए मजबूर कर देता है। इसीलिए माउंट आबू पर वर्ष भर में 170 सेमी. वर्षा हो जाती है जबकि उसके आसपास के मैदानी इलाकों में वर्ष भर में केवल 60 से 80 सेमी. ही है।

वायुमंडल की समांगता सब क्षेत्रों में एक सी नहीं है। वास्तव में उसमें विभिन्न परतें हैं जिनमें हर एक की मोटाई और घनत्व अलग-अलग हैं। वायुमंडल की विभिन्न परतों के गुण अलग-अलग हैं — उनकी संरचनाएं और भौतिक गुण भिन्न-भिन्न हैं। उनके बारे में कदाचित् सबसे विचित्र बात है — कम से कम एक सामान्य पाठक की दृष्टि में — ऊँचाई के साथ हमेशा वायु के ताप में कमी नहीं आती। कुछ परतों में ऊँचाई के साथ ताप बढ़ता भी है।

जल वाष्प वायुमंडल में लगभग हर स्थान पर — अत्यंत शुष्क मरुस्थली क्षेत्र के अलावा — हर समय मौजूद होती है। यह वायुमंडल में 40 से 45 हजार फुट (12,000 से 13,700 मीटर) ऊँचाई तक मौजूद होती है। वायुमंडल में उसकी मात्रा शून्य से लेकर 4 प्रतिशत तक होती है। वायुमंडल में उपस्थित जलवाष्प की कुल मात्रा कितनी विशाल है इसका अनुमान इससे हो सकता है कि अगर उसे पानी में बदल दिया जाए तो पूरी पृथ्वी पर पानी की लगभग 2.5 सेमी. ऊँची परत इकट्ठी हो जाएगी। एक छोटे से मेघ में भी 90 से लेकर 900 टन तक जल वाष्प मौजूद होती है।

वायुमंडल में जल तीनों रूपों — वाष्प, द्रव और ठोस (हिम के खों के रूप) — में मौजूद होता है।

वायुमंडल की सबसे निचली परत, क्षोभमंडल, ही मौसम उत्पन्न करने वाला क्षेत्र है। इसमें भूमध्यरेखा पर आर्द्र वायु धरती से गर्मी लेकर ऊपर उठती है और ध्रुवीय प्रदेशों में सूखी ठंडी वायु धरती की ओर आती है। बर्फीले मैदानों पर हवाएं धरती — सतह के लगभग समानांतर, प्रचंड वेग से बहती हैं।

वायुमंडल को अकसर “अत्यंत अदक्ष” मशीन कहा जाता है क्योंकि वह प्राप्त होने वाली ऊर्जा के केवल 3 प्रतिशत भाग का ही इस्तेमाल कर पाता है। फिर भी यह अत्यंत बलशाली कारक है। यह अपने अत्यंत विशाल वजन के बावजूद लगभग 450 किमी. प्रति घंटे से भी अधिक गति से हरकत कर सकता है। वह अरबों-खरबों टन पानी को वाष्प में परिवर्तित कर हजारों किमी. दूर ले जाकर फिर से पानी में बदल कर बरसा सकता है। इन कार्यों में लगने वाले बल की मात्रा इतनी विशाल होती है कि उसकी कल्पना करना भी कठिन है।

वायुमंडल के रौद्र रूप कितनी ऊर्जा व्यय करते हैं इसका अंदाज एक साधारण तडित झंझा (तेज आंधी जिसमें गरजने वाले और मूसलाधार वर्षा करने वाले मेघ भी उपस्थित होते हैं) द्वारा मुक्त की जाने वाली ऊर्जा से हो सकता है। वह हिरोशिमा किस्म के लगभग एक दर्जन परमाणु बमों के तुल्य ऊर्जा प्रति सैकंड खर्च कर देता है। अविश्वसनीय प्रतीत होते हुए भी यह सच है कि पृथ्वी पर इस प्रकार के लगभग 45,000 तडित झंझा हर दिन आते हैं।

वायुमंडल का एक प्रमुख कार्य है ऊष्मा (गर्मी) का स्थानांतरण — मोटे तौर से उष्ण कटिबंधों को प्राप्त होने वाली ऊष्मा (सौर ऊर्जा) को ध्रुवों की ओर ले जाना। दूसरे शब्दों में वायुमंडल का काम है पूरी पृथ्वी पर ऊष्मा को समान रूप से वितरित करना। मौसम के संदर्भ में ऊष्मा बहुत महत्वपूर्ण है।

अत्यंत विशाल और जटिल संवहन चक्र की मदद से और जल वाष्प के माध्यम से ऊष्मा पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में वितरित होती है। सिद्धांततः यह संवहन चक्र वही है जो हमारे रसोईघरों, प्रयोगशालाओं और अन्य स्थानों पर पानी को गर्म करता है। ऐसे संवहन चक्र से पानी ही नहीं हर तरल-द्रव और गैस-गर्म होता है। इसके अनुसार ऊष्मा मिलने पर पहले तरल की तली के अणु गर्म होते हैं, गर्म

होकर वे ऊपर उठते हैं और ऊपरी सतह के ठंडे अणु उनका स्थान लेने के लिए तली में चले जाते हैं। वहां वे गर्म होकर फिर ऊपर आ जाते हैं और ऊपरी सतह के ठंडे अणु उनका स्थान ले लेते हैं। इस प्रकार पूरा द्रव गर्म हो जाता है।

वायु भी इसी प्रकार गर्म होती है, पर वायु को गर्म करके उसे गति प्रदान करने वाला संवहन चक्र अत्यंत विशाल और जटिल होता है। यह संवहन चक्र किसी क्षेत्र की वायु के, आस-पास के क्षेत्रों की वायु की तुलना में, अधिक गर्म हो जाने से आरंभ होता है। गर्म होने पर वायु में उपस्थित गैसों के अणु उत्तेजित हो जाते हैं। वे एक-दूसरे को धकेलने लगते हैं। इससे गैसें फैल जाती हैं; उनका घनत्व कम हो जाता है और वे हल्की हो जाती हैं। इससे उनके द्वारा डाले जाने वाला दाब भी कम हो जाता है। परिणामस्वरूप आसपास के क्षेत्रों की भारी (अधिक घनत्व वाली), ठंडी, वायु उसे धकेलने लगती है। पर हल्की वायु केवल एक ही दिशा में, ऊपर की, ओर गति कर सकती है। अतएव वह ऊपर उठ जाती है।

वायु की गति और उसके दाब में भी संबंध होता है। उसका दाब उसकी गति के वर्ग का समानुपाती होता है। जब गति दुगुनी हो जाती है, तब उसका दाब चार गुना हो जाता है। जब गति चार गुना हो जाती है तब दाब सोलह गुना हो जाता है।

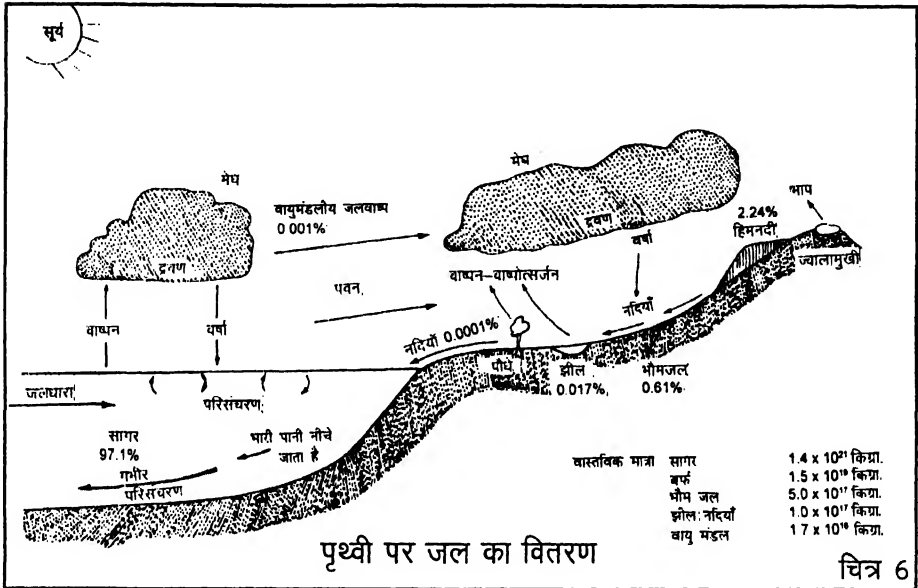
पृथ्वी पर भी, उसके विभिन्न क्षेत्रों में, तापांतरों और दाबांतरों के कारण, संवहन चक्र चलते रहते हैं। पर वे उपर्युक्त चक्र से कहीं अधिक विशाल होते हैं। उन्हें पृथ्वी का घूर्णन, पर्वतों की दिशा आदि, अनेक कारक भी अत्यधिक प्रभावित करते हैं। पर इन्हीं चक्रों के कारण पवन बहती हैं। इन्हीं के कारण पवन घाटियों से चोटियों की ओर बहती हैं और चोटियों से घाटियों की ओर।

मोटे तौर पर विश्वव्यापी संवहन चक्र का आरंभ उष्ण कटिबंध से होता है। यह कटिबंध पृथ्वी के मध्य में स्थित भूमध्यरेखा, के आसपास का वह क्षेत्र है जिसमें पृथ्वी के उष्णतम क्षेत्र स्थित हैं। यह भूमध्यरेखा के दोनों ओर स्थित है जिसे मध्य युग में "डोलड्रम" (शांत क्षेत्र) नाम दे दिया गया था। यह नाम आज भी प्रचलित है यद्यपि मौसम-वैज्ञानिक इसे "अंतःउष्ण कटिबंधीय अभिसरण क्षेत्र" (इंटर ट्रापिकल कन्वरजेंस जोन - आई टी सी जेड) कहना अधिक पसंद करते हैं।

भूमध्यरेखा ओर उसके आसपास के क्षेत्रों को ध्रुवीय प्रदेशों की तुलना में कहीं अधिक सौर ऊर्जा प्राप्त होती है। यदि वायुमंडल एकदम साफ और शुष्क रहता है तब पृथ्वी द्वारा विकिरित की जाने वाली ऊर्जा बहुत शीघ्रता से अंतरिक्ष में चली जाती है। पर पृथ्वी पर केवल थल ही नहीं अत्यंत विशाल जल राशियां भी उपस्थित हैं। साथ ही वायुमंडल में हमेशा ही बहुत बड़ी मात्रा में जल वाष्प मौजूद रहती है। यह जल वाष्प पृथ्वी पर जीवन के लिए वरदान है। पर यह उस ऊष्मा ऊर्जा का, जो बहुत बड़ी मात्रा में थल और सागरों द्वारा अंतरिक्ष की ओर भेजी जाती है, एक बड़ा भाग स्वयं अवशोषित कर लेती है और बाद में उसे फिर से पृथ्वी की ओर भेज देती है। इस प्रकार जल वाष्प से भरा वायुमंडल "ग्रीनहाउस प्रभाव" पैदा कर देता है।

इसके अतिरिक्त जलवाष्प सूर्य से आने वाली दृश्य प्रकाश किरणों तथा पराबैंगनी किरणों को पृथ्वी की ओर आने तो देती है पर अवरक्त किरणों के रूप में पृथ्वी से अंतरिक्ष की ओर जाने वाली (ऊष्मा) ऊर्जा को रोक लेती है। इन सब का अंतःपरिणाम होता है भूमध्यरेखा के आसपास के क्षेत्र का एक बहुत बड़े "बॉयलर" में परिवर्तित हो जाना। इससे उस क्षेत्र में अंतरिक्ष में विकिरित की जा

सकने वाली ऊष्मा से कहीं अधिक मात्रा में ऊष्मा पैदा हो जाती है। अतः यह ऊष्मा ध्रुवीय प्रदेशों में अंतरिक्ष में विकिरित हो जाती है। इस प्रकार ध्रुवीय प्रदेश सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊष्मा की तुलना में कहीं अधिक ऊष्मा अंतरिक्ष में विकिरित करते हैं। इस प्रकार पृथ्वी को सूर्य से हर दिन जितनी ऊर्जा प्राप्त होती है वह संपूर्ण रूप से परावर्तित कर दी जाती है। इस प्रकार पृथ्वी का औसत ताप 15° सै. के आसपास स्थिर रहा आता है



चित्र 6

यहां यह बता देना तर्कसंगत होगा कि उपर्युक्त ऊष्मा चक्र इतना सरल नहीं है जितना पहली दृष्टि में प्रतीत होता है। पृथ्वी द्वारा वापस भेजी जाने वाली ऊर्जा को पहले पृथ्वी पर ही काफी "कार्य" करना पड़ता है तब वह अंतरिक्ष में जाती है। साथ ही वायुमंडल में मौजूद जल वाष्प अवरक्त किरणों को पृथ्वी की ओर केवल परावर्तित ही नहीं करती वरन् उनमें निहित ऊर्जा को बड़ी मात्रा में अपने में भंडारित भी कर लेती है। वायुमंडल उस ऊर्जा के बड़े भाग को पवन के माध्यम से एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को स्थानांतरित करता रहता है।

जब सौर ऊर्जा किसी जल राशि पर पड़ती है तब परिणाम होता है जल का बड़ी मात्रा में वाष्पन। इस वाष्पन में जल की गुप्त ऊष्मा निहित होती है जो वाष्प के पुनः पानी में परिवर्तित होते समय मुक्त हो जाती है। इस प्रकार जब जल वाष्प ठंडी होकर बादलों में (पानी की बुंदकियों में) परिवर्तित होती है तब यह ऊर्जा वायुमंडल में मुक्त हो जाती है। इस प्रकार मुक्त होने वाली ऊर्जा की मात्रा कितनी होती है, इसका अनुमान मौसम-वैज्ञानिकों ने लगाया है। उनका मत है कि किसी क्षेत्र पर होने वाली एक इंच (2.54 सेमी.) वर्षा उसी क्षेत्र पर तीन दिन तक पड़ने वाली धूप के तुल्य ऊर्जा मुक्त करती है।

अध्याय तीन

पवन : मंद समीर या भयावह चक्रवात

सामान्य आदमी के लिए पवन का अर्थ मंद-मंद बहने वाली बयार भी हो सकता है और तबाही का तांडव नृत्य करने वाला चक्रवात भी; मन को प्रफुल्लित कर देने वाली समीर भी हो सकता है और रेगिस्तान के धूलभरे अंधड़ भी; तपती दोपहरी की लू भी हो सकता है और जीवनदायनी वर्षा लाने वाला मानसून भी। परंतु मौसमवैज्ञानिक की दृष्टि से "पवन" बहती हुई पवन है जिसमें ऊर्जा कूट-कूट कर भरी होती है। यह ऊर्जा अत्यंत विलक्षण कार्य कर सकती है और वास्तव में करती भी है। वह सागर के पानी की अत्यंत विशाल मात्रा को, इतनी विशाल मात्रा को - जितनी पृथ्वी की किसी भी नदी में नहीं है - बहा कर, हजारों किमी. दूर ले जा सकती है; एक क्षण में आकाश को मेघों से पूरी तरह ढंक सकती है तो दूसरे ही क्षण उन्हें उड़ाकर ले जा सकती है; ऊष्मा और जल वाष्प की बहुत बड़ी मात्राओं को पृथ्वी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुंचा देती है; हजारों-लाखों टन धूल को अपने साथ उड़ाकर सैकड़ों किमी. दूर ले जाकर जमा कर देती है। साथ ही वह पेड़-पौधों के बीजों को पूरी पृथ्वी पर फैला देती है; वायुमंडल को हमारे कारखानों से निकलने वाले विषैले धुएं और गैसों से मुक्त कर देती है। वैसे इनके अतिरिक्त भी पवन अनेक विलक्षण काम करती रहती है।

पवन की ऊर्जा उसके बहने में निहित होती है। उक्त सब कार्य वह उस समय ही कर सकती है जब बह रही होती है। पवन को बहने के लिए कौन प्रेरित करता है? यह कार्य करता है विभिन्न स्थानों पर वायुमंडल के दाबों में अंतर। वायुमंडल के विभिन्न भाग सदैव एक ही ताप पर नहीं रहते। उनमें सदा अंतर होता है। ये तापांतर ही वायुमंडल के विभिन्न क्षेत्रों के दाबों में अंतर उत्पन्न कर देते हैं। भौतिकी के एक प्रसिद्ध नियम के अनुसार "वायुमंडल के दाबों के असंतुलन को दूर करने के लिए ही पवन बहती है।" वह सदैव उच्च दाब वाले क्षेत्र से निम्न दाब वाले क्षेत्र की ओर बहती है। पवन को नाम उस दिशा के अनुसार दिया जाता है जिससे वह आ रही होती है।

सागर पर पवन आमतौर से एक सी गति से, और बिना किसी रुकावट के बहती हैं जबकि थल पर से बहते समय उसे पेड़-पौधों, पर्वतों अथवा मानव निर्मित संरचनाओं का सामना करना पड़ता है। ये वस्तुएं घर्षण उत्पन्न करती हैं। इसलिए थल पर पवन की गति एकसमान नहीं रह पाती।

घर्षण के प्रभावस्वरूप भूपृष्ठीय पवन सागर की तुलना में थल पर अधिक हलकी हो जाती हैं। आमतौर से धरती की सतह पर बहने वाली हल्की पवन में झोंके अधिक उत्पन्न होते हैं। ये झोंके वायु प्रवाह के विक्षोभों के कारण उत्पन्न होते हैं। धरती की सतह से लगभग 500 मीटर अथवा उससे

अधिक ऊँचाई पर तेज और एकसमान गति से बहने वाली पवन को, भूपृष्ठ की ओर खींच लिए जाने से अकसर विक्षोभ पैदा हो जाते हैं।

कुछ पवन हमेशा एक ही दिशा में बहती हैं जबकि कुछ अपनी दिशाएं बदलती रहती हैं। एक ही दिशा में बहने वाली पवन “स्थायी पवन” कहलाती हैं और दिशा बदलने वाली “अस्थायी पवन”।

अस्थायी पवन में वे पवन भी शामिल हैं जो दिन के समय एक दिशा में रहती हैं और रात के समय विपरीत दिशा में। जल और थल समीरें तथा पर्वतों पर बहने वाली “आरोही” और “अवरोही” पवन ऐसी ही पवन हैं। पर कुछ अस्थायी पवन ऋतुओं – गर्मी और सर्दी के अनुसार अपनी दिशाएं बदलती हैं। मानसून इसी प्रकार की अस्थायी पवन हैं।

स्थायी पवन

आप पढ़ चके हैं कि पृथ्वी के मध्य भाग में – भूमध्यरेखा के आसपास के क्षेत्र में – सूर्य की किरणें सदैव लगभग सीधी पड़ती रहती हैं। वैसे पृथ्वी की धुरी के झुकाव के कारण यह क्षेत्र, कुछ सीमाओं में, अपना स्थान बदलता रहता है। उत्तरी गर्मी में वह कर्क रेखा ($23\frac{1}{2}^{\circ}$ उत्तर अक्षांश) के अधिक निकट आ जाता है तो दक्षिणी गर्मी में मकर रेखा ($23\frac{1}{2}^{\circ}$ दक्षिण अक्षांश) के निकट।

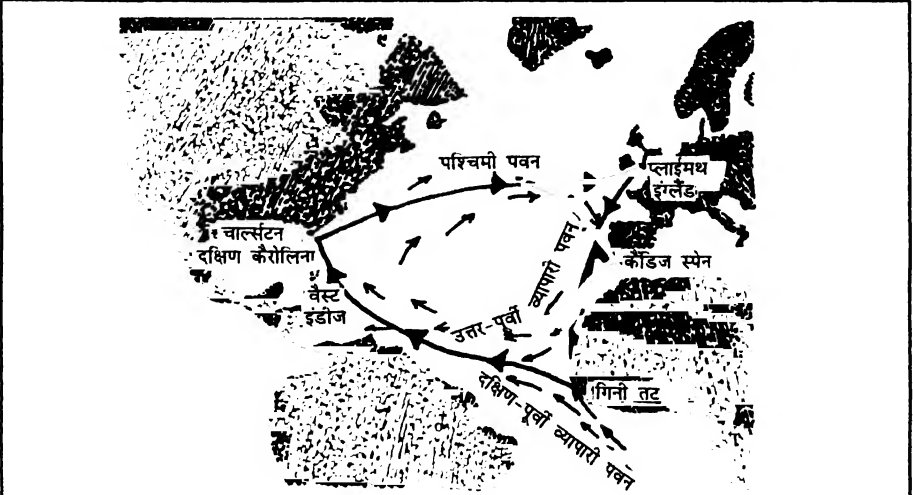
सौर किरणों के सीधी पड़ने से भूमध्यरेखा के आसपास वर्ष भर गर्मी पड़ती है। इससे इस क्षेत्र की वायु गर्म हो जाती है और हल्की होकर ऊपर उठती रहती है। यहां पवन के बहने की दिशा हमेशा नीचे से ऊपर की ओर होती – क्षैतिज रूप में नहीं। ऊपर उठकर पवन का कुछ भाग उत्तर की ओर चला जाता है और कुछ दक्षिण की ओर। लगभग 30° उत्तर और दक्षिण अक्षांशों तक पहुंचते-पहुंचते ये दोनों भाग ठंडे होने लगते हैं।

इन क्षेत्रों में ये पवन फिर से दो भागों में विभक्त हो जाती हैं। एक भाग ध्रुव की ओर चला जाता है जबकि दूसरा भाग 30° और 35° अक्षांशों के बीच के क्षेत्र में, धरती की सतह पर उतर जाता है। ध्रुवों की ओर जाने वाला भाग बाद में प्रतिकूल व्यापारी पवन (पश्चिमी पवन) में सम्मिलित हो जाता है। ऐसा दोनों गोलार्द्धों में होता है।

यहां यह बता देना उपयुक्त होगा कि ऊँचाई के साथ-साथ पवन वेगमान होती जाती हैं।

पवन के नीचे उतर आने से 30 से 35° अक्षांशों के बीच, अधिक दाब वाला, “शांत क्षेत्र” बन जाता है। इस क्षेत्र में पवन की हलचल बहुत कम होती है पर उनका दाब काफी अधिक होता है। इसलिए इन क्षेत्रों से पवन कम दाब वाले क्षेत्रों की ओर बहना आरंभ कर देती हैं। कम दाब वाले क्षेत्रों में एक भूमध्यरेखा के आस पास स्थित होता है और दूसरा दोनों गोलार्द्धों में $60-65^{\circ}$ अक्षांशों के बीच। इसलिए पवन दो भागों में विभक्त होकर इन दोनों क्षेत्रों की ओर बहने लगती हैं। $30-35^{\circ}$ अक्षांशों के बीच के क्षेत्र को नाविक “अश्व अक्षांश” (हॉर्स लैटीट्यूड) के नाम से पुकारते हैं यद्यपि इन क्षेत्रों का घोड़ों के साथ कोई संबंध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य युग में मध्य और दक्षिण अमेरिका को पददलित करने हेतु जाने वाली स्पेन की सेनाओं के अधिकांश घोड़े यूरोप से इस क्षेत्र तक पहुंचते-पहुंचते, लगातार हफ्तों तक शांत रहे आने के कारण, मर जाते थे और उन्हें समुद्र में फेंकना पड़ता था। अश्व अक्षांशों से भूमध्यरेखा की ओर बहने वाली पवन, “व्यापारी पवन” (ट्रेड विंड) कहलाती हैं। मंद, धीरे-धीरे बहने वाली इन पवनों का नामकरण “ट्रेड विंड” करने के पीछे कदाचित्

कोरिओलिस बल के अनुसार पृथ्वी के घूर्णन के फलस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध में हर गतिशील वस्तु का पथ दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्ध में बांयी ओर झुक जाता है। इसीलिए व्यापारी पवन उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर से दक्षिण की ओर न बहकर उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण दिशा से न आकर दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर बहती हैं।



गुलामों के व्यापार में स्थाई पवनों ने बहुत योगदान दिया था। माल लादकर जल जहाज यूरोप से अफ्रीका की ओर जाते थे। इस यात्रा में उत्तरी-पूर्वी व्यापारी पवन उनकी मदद करती थी। वहां वे अपने माल के बदले गुलाम खरीदते थे और उन्हें लेकर उत्तर अमेरिका की ओर यात्रा आरंभ कर देते थे। इस यात्रा में वे दक्षिण-पूर्वी व्यापारी पवन का भरपूर लाभ उठाते थे। उत्तर अमेरिका पहुंचकर गुलामों के बदले शक्कर, मक्का, सोना, प्राप्त करते थे। फिर शुरू होती वापिस यात्रा यूरोप की ओर। इस बार पश्चिमी पवन उनकी मदद करती थी।

चित्र : 8

पश्चिमी पवन : आप पढ़ चुके हैं कि भूमध्यरेखीय क्षेत्र से आने वाली पवन का केवल एक अंश ही 30° – 35° अक्षांश क्षेत्रों में नीचे उतरता है। दूसरा अंश ध्रुवों की ओर बढ़ता जाता है। इस अंश में अश्व अक्षांशों के उच्च दाब वाले क्षेत्रों से ध्रुवों की ओर बहने वाली पवन भी शामिल हो जाती हैं। कोरिओलिस बल के फलस्वरूप वे पश्चिम की ओर मुड़ जाती हैं। इसलिए वे उत्तरी गोलार्ध में दक्षिण-पश्चिम से और दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर-पश्चिम से आती हैं। वे उस समय तक इन दिशाओं में बहती रहती हैं जब तक लगभग 60° अक्षांशों तक नहीं पहुंच जातीं। वहां, 60° से 65° अक्षांशों के बीच, पृथ्वी के घूर्णन के फलस्वरूप, निम्न दाब वाले क्षेत्र बन जाते हैं। इसलिए ये वहां उतर जाती हैं।

व्यापारी पवन से विपरीत दिशाओं में बहने के कारण पहले इन्हें “प्रतिकूल व्यापारी पवन” (एंटीट्रेड विंड) कहा जाता था। पर पश्चिम दिशा (दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पश्चिम) से आने के फलस्वरूप उनका “पश्चिमी पवन” (वेस्टरलीज) नाम अधिक प्रचलित हो गया है।

पश्चिमी पवन व्यापारी पवन के समान मंद गति से नहीं बहती। उनकी गति काफी तेज होती है और अनेक क्षेत्रों में वे प्रचंड हो जाती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि इनमें जेट प्रवाह शामिल हो जाते हैं। वैसे धरती की सतह पर भी पश्चिमी पवन की गति काफी तेज होती है। वास्तव में स्थायी पवनों में ये सबसे तेज बहने वाली पवन हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में, जहां थल अपेक्षाकृत कम है, ये हजारों किमी. तक, बिना किसी रोक-टोक के, सागर पर से बहती हैं। वहां ये लगभग तूफान जैसी स्थिति पैदा कर देती हैं। सागर में वे 18 मीटर जैसी ऊंची लहरें उत्पन्न कर देती हैं। ऐसा 40° से 50° दक्षिण अक्षांशों के बीच वाले क्षेत्र में अक्सर होता है। वहां ये बहुत शोर भी करती हैं। मध्य युग में छोटी-मोटी नौकाओं में यात्रा करने वाले नाविकों ने इनके भयानक शोर से घबराकर इन्हें "गरजती चालीसा" (रोरिंग फार्टीज) जैसा विचित्र नाम दे दिया था। यह नाम आज भी प्रचलित है। पर कदाचित् प्रचंड गति से बहने वाली पश्चिमी पवन अपने इस नाम से "प्रसन्न" होकर शांत नहीं होतीं वरन् अपनी गति को और तीव्र कर देती हैं। वे और भयावह हो जाती हैं। उनकी यह गति लगभग 60° दक्षिण अक्षांश तक बनी रहती है। इसीलिए 50° से 60° दक्षिण अक्षांशों के बीच "भयानक पचासा" (फ्यूरियस फिफ्टीज) और 60° से 70° दक्षिण अक्षांशों के बीच "चीखते साठ" (श्रीकिंग सिकसटीज) कहलाती हैं। उसके बाद उनकी गति काफी धीमी पड़ने लगती है। वास्तव में दोनों गोलार्द्धों में उन्हें 60° अक्षांशों के बाद ध्रुवों से आने वाली पुरवैया (ईस्टरलीज) मिल जाती है। इसीलिए ये 60-65° अक्षांशों के बीच के क्षेत्र में नीचे उतरने लगती हैं।

ध्रुवीय पूर्वी पवन ध्रुवों से भी ठंडी, भारी, पवनें चारों ओर बहती हैं। उन पर भी कोरिओलिस बल के प्रभाव पड़ते हैं। इसलिए वे उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर से न आकर उत्तर-पूर्व से और दक्षिण गोलार्द्ध में दक्षिण से न आकर दक्षिण-पूर्व से आती हैं।

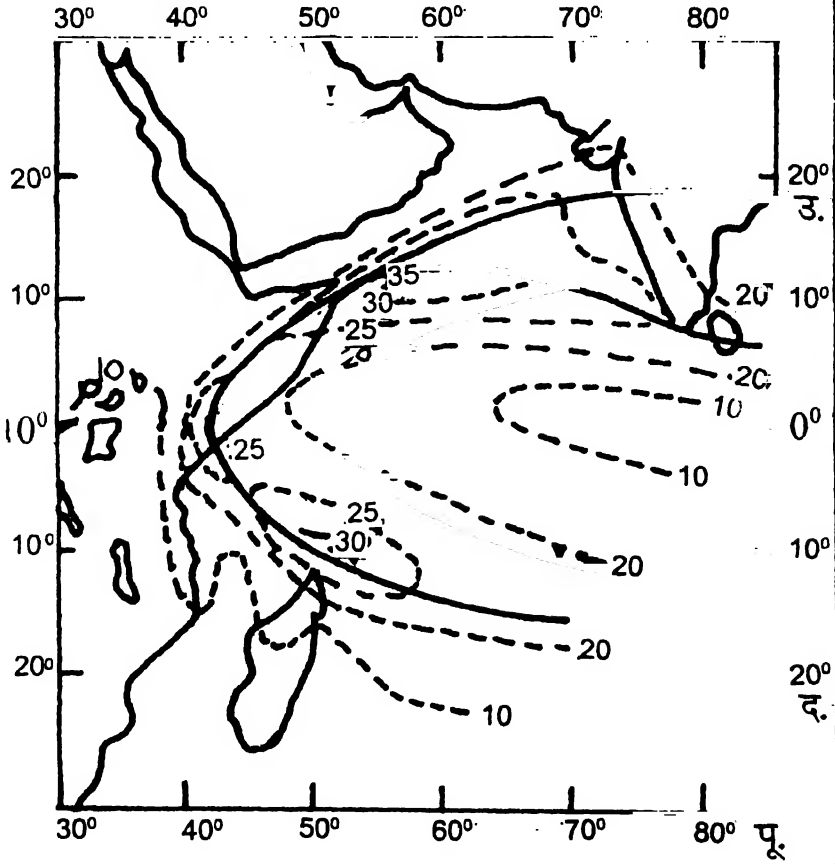
जेट प्रवाह : द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अत्यंत ऊंची उड़ान भरते समय वायुयानों के पायलटों को एक विशेष अनुभव हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि जब वे प्रशांत महासागर पर से उच्च गति से, अमेरिका से जापान की ओर उड़ते थे, तब उनकी गति अपने-आप घट जाती थी। साथ ही पूर्व और पश्चिम दिशाओं में, समान दूरियों की उड़ान भरने में उन्हें अलग-अलग समय लगता था। बाद में शिकागो विश्वविद्यालय में कार्यरत, स्वीडन के मौसमवैज्ञानिक सी.जी. रॉसबी के नेतृत्व में इसके कारण ज्ञात करने के लिए गहन अध्ययन किए गए। उनमें पता चला कि धरती की सतह से लगभग 10 किमी. ऊंचाई पर 160 से 320 किमी. प्रति घंटे तक की गति से पवन बहती रहती हैं। ये पवन ही वायुयानों की गति को कम कर देती थीं। ये घुमावदार होती हैं। रॉसबी ने इनका नाम "जेट प्रवाह" सुझाया था जो आज भी प्रचलित है। इनमें पवन की पट्टियां होती हैं। आमतौर से ये कुछ सौ किमी. दूरी तक बहने के बाद शांत हो जाती हैं परंतु कुछ पृथ्वी की आधी से भी अधिक परिक्रमा कर लेती हैं। इनमें पवन गति 30 से लेकर 150 मीटर प्रति सैकंड तक, कुछ भी हो सकती है।

प्रत्येक गोलार्द्ध में दो-दो जेट प्रवाह उपस्थित हैं — एक उपोष्ण क्षेत्र में और दूसरा ध्रुवीय क्षेत्र में। सर्दियों में ये अधिक प्रबल हो जाते हैं। ये आमतौर से पश्चिम से पूर्व की ओर बहते हैं पर इनमें पवन अपनी ऊंचाई और गति बदलती रहती है। इससे पवन की छल्ले जैसी आकृतियां बन जाती हैं। इन छल्लों की आकृतियां और स्थितियां भी निरंतर बदलती रहती हैं। यद्यपि जेट प्रवाह काफी ऊंचाई पर, क्षोभसीमा में, बहते हैं, परंतु ये निचले वायुमंडल के निम्न और उच्च दाब वाले क्षेत्रों को भी प्रभावित

करते हैं।

गर्मी में हमारे देश के दक्षिणी भाग से अफ्रीका के ऊपर तक बहने वाला प्रवाह ही एक मात्र ऐसा जेट प्रवाह है जो पूर्व से पश्चिम की ओर बहता है।

हमारे देश के दक्षिणी भाग से अदन की खाड़ी तक बहने वाले इस पूर्वी जेट प्रवाह की मौजूदगी के बारे में सबसे पहले, सन् 1952 में, भारतीय मौसम वैज्ञानिक पी.आर. कृष्ण राव और पी. कोटेश्वरम् ने ही बताया था। बाद में इस पूर्वी जेट प्रवाह के गहन अध्ययन किए गए और आज हमें इसके बारे में काफी जानकारी है।



जुलाई मास में कम ऊँचाई (एक किमी.) पर बहने वाले जेट प्रवाह

गर्मी की मानसून के मौसम में, बहने वाले इस पूर्वी जेट प्रवाह में पवन पश्चिमी जेट प्रवाह की तुलना में अधिक ऊँचाई पर (लगभग 13 किमी. ऊँचाई) पर बहती हैं। यह जेट तिरुअनंतपुरम से लेकर कोलकता तक फैला होता है और इसमें पवन की गति 100 नॉट से भी अधिक हो जाती है। यह अपनी स्थिति, मानसूनों के साथ उत्तर या दक्षिण की ओर, बदलता रहता है। इसमें वायु की बहुत बड़ी मात्रा मौजूद होती है। सागर के ऊपर से बहने के फलस्वरूप इसमें जल वाष्प भी काफी मात्रा में मौजूद होती है। यह वाष्प वर्षा के रूप में हमारे देश के ऊपर बरसती है।

भारत में हिमालय के दक्षिणी ढालों पर एक पश्चिमी जेट प्रवाह भी बहता है। सर्दियों में यह हिमालय के दक्षिण में स्थित होता है पर गर्मी की मानसून का आगमन होते ही यह हिमालय के उत्तर की ओर चला जाता है। इस बारे में यह सुझाया गया है कि इस जेट प्रवाह का उत्तर की ओर सरक जाना भारत के ऊपर मानसून आ जाने का प्रथम संकेत माना जा सकता है।

मौसमवैज्ञानिकों ने अफ्रीका के पूर्वी तट पर, सोमालिया के निकट, गर्मी की ऋतु में, काफी कम ऊँचाई पर बहने वाले एक प्रबल पश्चिमी जेट प्रवाह का पता लगाया है। इसमें पवन 1.5 किमी. जैसी कम ऊँचाई पर, 60 से 100 नॉट की गति तक बहती पायी गई हैं। जून से सितंबर तक की अवधि में, जब गर्मी की मानसून अपने शिखर पर होती है, यह जेट प्रवाह 10° उत्तर अक्षांश के आसपास के क्षेत्र में अरब सागर से भारतीय प्रायद्वीप तक बहता रहता है।

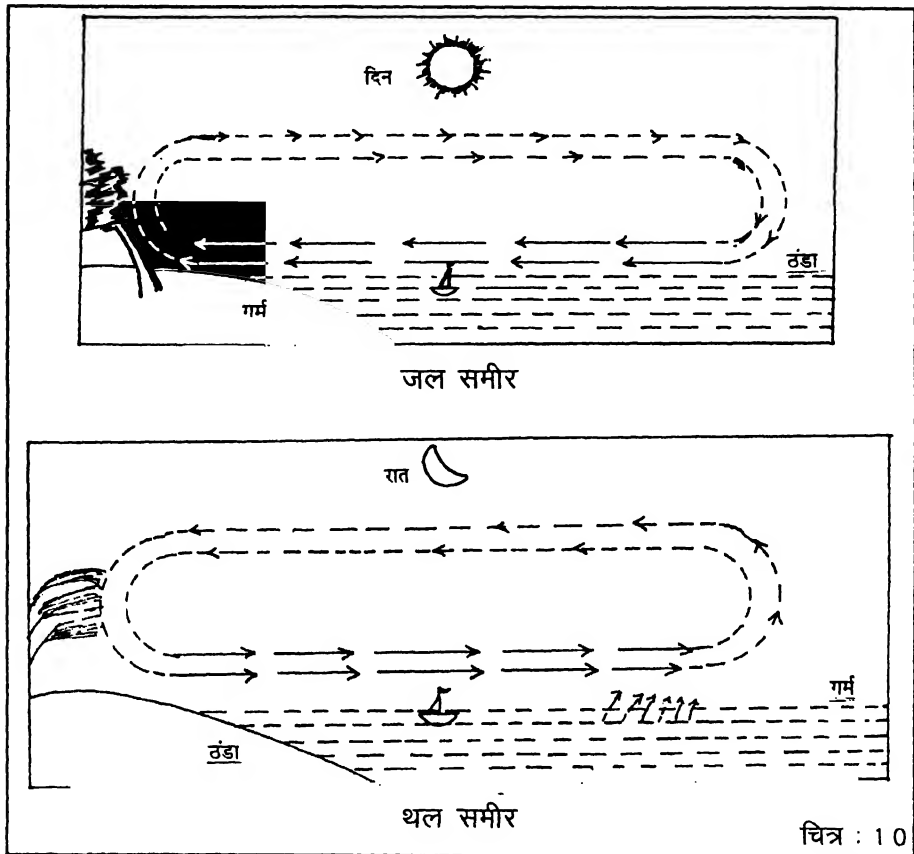
यद्यपि जेट प्रवाहों में वायु की गति अत्यंत तीव्र—हरीकेन की गति से भी कहीं अधिक होती है पर क्षोभसीमा में स्थित होने के कारण इनमें वायु बहुत पतली होती है और इसमें निहित ऊर्जा धरती की सतह पर बहने वाली पवन की ऊर्जा से बहुत कम होती है। इसीलिए जेट प्रवाह किसी क्षेत्र के मौसम को उस प्रकार प्रभावित नहीं कर पाते जैसे चक्रवात करते हैं।

अस्थायी पवन

जल और थल समीर : सागर के तट के निकट के इलाकों में गर्मी और सर्दी के तापों में तथा दिन और रात के तापों में अधिक अंतर न हो पाने की कारण हैं जल और थल समीर।

सूर्य की ऊर्जा थल में कुछ सेमी. नीचे तक ही प्रवेश कर पाती है। इसलिए उसकी ऊपरी सतह का ताप काफी अधिक हो जाता है। उसके ऊपर की वायु भी गर्म हो जाती है और उसका दाब कम हो जाता है। उसकी तुलना में जल में सौर ऊर्जा लगभग 100 मीटर गहराई तक प्रवेश कर जाती है। साथ ही जल की ऊष्माधारिता थल की तुलना में लगभग 2.5 गुनी है। इसलिए जल का ताप बहुत कम बढ़ता है। उसके ऊपर की वायु अपेक्षाकृत कम गर्म होती है और उसका दाब थल के ऊपर की वायु के दाब की तुलना में काफी अधिक रहता है। वायु अपना दाब समान रखने के गुण के फलस्वरूप जल से थल की ओर बहने लगती है। यह 'जल समीर' या 'सागर समीर' कहलाती है।

परन्तु रात में हवा के बहने का "चक्र" उलट जाता है। थल जल की अपेक्षा अधिक मात्रा में ऊष्मा परावर्तित करता है। इसलिए जल की अपेक्षा उसका ताप कम हो जाता है। उस समय थल पर वायु का दाब अधिक होता है और जल पर कम। इसलिए वायु थल से जल की ओर बहने लगती है। इसकी वजह से थल का ताप उतना कम नहीं हो पाता जितना ठंडी वायु के उस पर जमा होने से होता।



चित्र : 10

उष्ण और उपोष्ण क्षेत्रों के तटीय इलाकों में जल और थल समीरों नियमित रूप से बहती हैं। पर समशीतोष्ण इलाकों में जल समीर की प्रवृत्ति "मौसमी" हो जाती है। वह अपेक्षाकृत गर्म मौसम में, विशेष रूप से जून और जुलाई के महीनों के दौरान ही, बहती है। वह आमतौर से दिन में 10 और 11 बजे के बीच आरंभ हो जाती है, दोपहर 2 बजे के करीब उसका बहाव मंद पड़ने लगता है और शाम के 7-8 बजे के बीच वह पूर्णतः समाप्त हो जाती है।

विभिन्न क्षेत्रों में जल समीर को बहुत सुंदर नामों से पुकारा जाता है। चिली में इसे "विराजॉन" (Virazon), जिब्राल्टर में "दातू", मोरक्को में "इम्बात" इटली में "पोनेन्ते" (Ponente), पवर्नई द्वीप में "कपालिलुआ" (Kapalilua) और अनेक अंग्रेजी भाषा-भाषी क्षेत्रों में "डॉक्टर" के नाम से पुकारा जाता है।

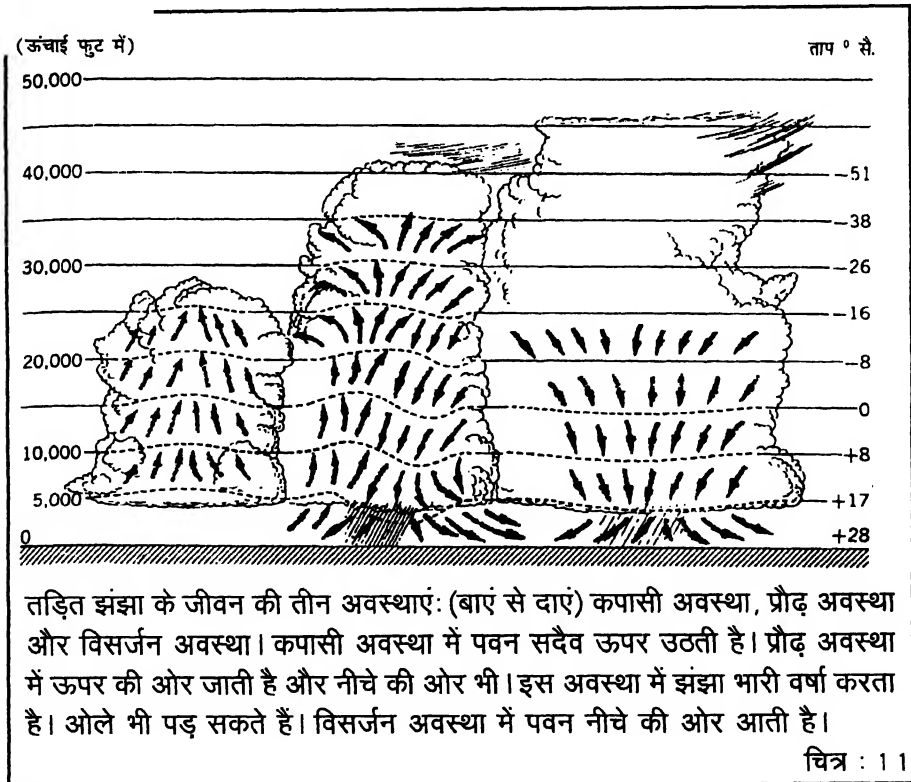
जल और थल समीरों के बारे में वैज्ञानिकों का मत है कि जलवायु जितनी अधिक गर्म होगी ये समीर उतनी ही अधिक तेजी से और उतनी ही अधिक दूरी तक जाएंगी तथा उनमें वायु की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। दोपहर के समय जब ताप सबसे अधिक होता है उनकी गति भी अधिकतम होती है। समशीतोष्ण क्षेत्रों में उनकी गति आमतौर से 15 से 20 किमी. प्रति घंटा होती है पर गर्म

इलाकों में वे 30 से 40 किमी. प्रति घंटा हैं। इसी प्रकार समशीतोष्ण क्षेत्रों में थल पर वे औसतन 15 किमी. ऊंचाई तक चली जाती हैं। इसके विपरीत उष्ण कटिबंध में वे 1200 मीटर या उससे भी अधिक ऊंचाई पर बहती हैं और थल पर लगभग 150 किमी. अंदर तक पहुंच जाती हैं।

मानसून पवन भी जल और थल समीरों के सिद्धांत पर उत्पन्न होती और बहती हैं। इनकी उत्पत्ति तथा गतिविधियों के बारे में "वरुणदूत : मानसून" अध्याय में पढ़िए।

पवन के रौद्र रूप

लगभग 4 वर्ष पहले (1998 में) कांडला (गुजरात) में पवन के रौद्र रूप द्वारा विनाशकारी तांडव नृत्य को आसानी से नहीं भुलाया जा सकता। उस "नृत्य" ने सैकड़ों व्यक्तियों को काल के गाल में पहुंचा दिया था और अरबों रुपए मूल्य की संपत्ति नष्ट कर दी थी। यह पवन का ऐसा रौद्र रूप था जिसे किसी भी हालत में रोका नहीं जा सकता था। अधिक से अधिक उसके आगमन के बारे में पूर्वसूचना दी जा सकती थी जिससे लोग अपने बचाव के लिए ज्यादा से ज्यादा दूर चले जाने का प्रयत्न कर सकते थे।



कांडला में आने वाला चक्रवात कोई अनोखी प्राकृतिक घटना नहीं थी। ऐसी दुखद घटनाएं हमारे पूर्वी तट पर अकसर ही और पश्चिमी तट पर कभी-कभी होती ही रहती हैं। साथ ही ये विश्व के अन्य

क्षेत्रों में भी, कहीं अधिक भयंकर रूप में भी, घटती रहती हैं और कहीं अधिक विनाश का कारण बनती हैं।

नवंबर 1977 में, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश के तट पर दो अत्यंत विनाशकारी चक्रवात आए थे। ये एक-दूसरे के कुछ दिनों के अंतर पर आए थे। बंगाल की खाड़ी में नवंबर 1977 के प्रथम सप्ताह में उत्पन्न चक्रवात ने 12 नवंबर को श्रीलंका के उत्तर से तमिलनाडु में प्रवेश किया था। वहां भयंकर तबाही मचाता हुआ और 400 से भी अधिक लोगों को मृत्यु की गोद में सुलाता हुआ वह पश्चिम की ओर बढ़ता गया और अरब सागर के तट को पार कर गया। पर तीन दिन बाद ही यह फिर लौट पड़ा और 22 नवंबर को पश्चिमी तट को पार करके फिर से हमारे देश में आ घुसा। वहां भी उसने काफी तबाही मचा दी थी। वहां इसने बहुत अधिक वर्षा की थी पर वह तमिलनाडु में मचायी उक्त तबाही की तुलना में बहुत कम थी।

अभी लोग उक्त विनाश लीला के कारण त्राहि-त्राहि कर ही रहे थे कि 18 नवंबर को एक अन्य चक्रवात फिर हमारे पूर्वी तट से देश में प्रवेश कर गया। इस बार वह उत्तर की ओर मुड़ गया। उसका असली निशाना बना आंध्र प्रदेश। वहां उसने 19 और 20 नवंबर को जमकर वर्षा की और सागर में बहुत ऊंची-ऊंची लहरें उत्पन्न कीं जो थल पर भी कई किमी. अंदर तक घुस आयीं। इनसे करोड़ों रुपयों मूल्य की फसलें नष्ट हो गईं; हजारों मकान उजड़ गए और सैकड़ों लोगों की जानें गईं।

पवन अक्सर ही अपने इन रौद्र रूपों को धारण करती रहती है। वह ऐसा उष्ण कटिबंधों में भी करती है और समशीतोष्ण कटिबंधों में भी। इसीलिए संयुक्त राज्य अमेरिका से लेकर भारत, बांग्लादेश और आस्ट्रेलिया तक, सब देशों के निवासी, विशेष रूप से इन देशों के तटीय प्रदेशों के निवासी, सदा ही इनसे त्रस्त रहते हैं।

मौसमवैज्ञानिक पवन के इन रौद्र रूपों को अक्सर ही "साइक्लोन", "टाइफून", "टोरनेडो", आदि नामों से पुकारते हैं। यद्यपि साधारण बोलचाल की भाषा में इनमें कोई अंतर नहीं होता परंतु मौसमवैज्ञानिकों के अनुसार ये भिन्न-भिन्न होते हैं। वैसे "साइक्लोन" का हिंदी पर्याय "चक्रवात" है। मौसमवैज्ञानिक "साइक्लोन" और "हरीकेन" में अंतर मानते हैं। इसलिए हम भी "साइक्लोन", "हरीकेन", "टाइफून" और "टोरनेडो" को उनके प्रचलित अंग्रेजी नामों से ही पुकारेंगे।

आमतौर से बंगाल की खाड़ी, दक्षिण-पश्चिमी हिंद महासागर और आस्ट्रेलिया के उत्तर में स्थित सागरों में आने वाले चक्रवातों को "साइक्लोन" कहा जाता है। उत्तर-पश्चिमी प्रशांत महासागर में, विशेष रूप से चीन सागर में, उत्पन्न होने वाले चक्रवात "टाइफून" कहलाते हैं जबकि पश्चिमी अंध महासागर में उत्पन्न होने वाले चक्रवात "हरीकेन"। आस्ट्रेलिया में आने वाले चक्रवातों को भी "हरीकेन" नाम से पुकारा जाता है।

साइक्लोन या उष्ण कटिबंधीय चक्रवात उष्ण कटिबंधों में उत्पन्न होने वाली "निम्न दाब पवन संचरण प्रणाली" है जिसमें पवन की गति 60 किमी. प्रति घंटा से अधिक परंतु 120 किमी. प्रति घंटे से कम होती है"। बोफर्ट पैमाने के अनुसार पवन-गति 8 से अधिक पर 12 से कम होती है (परिशिष्ट ख भी देखिए)।

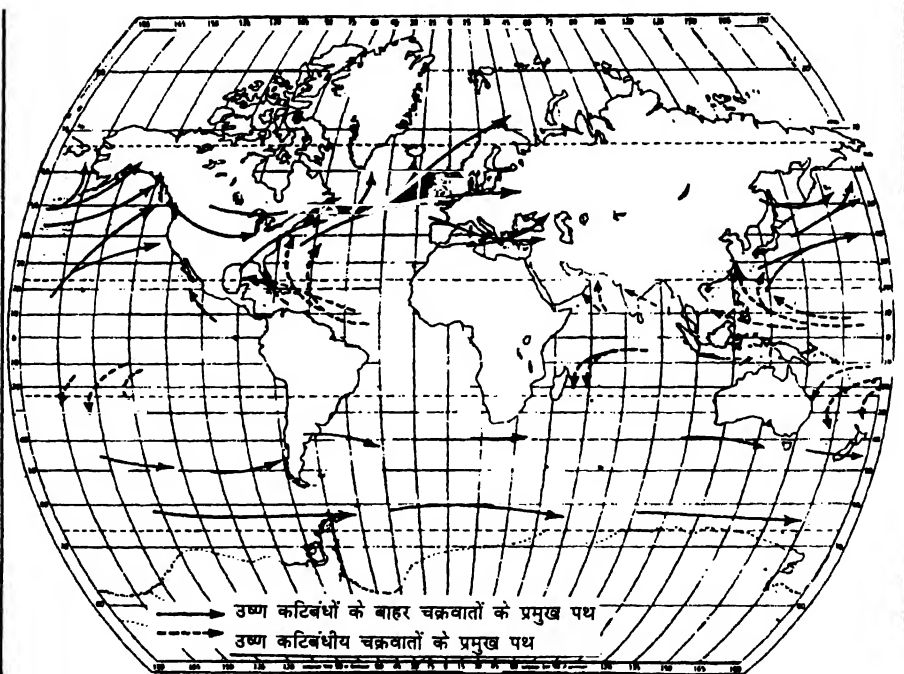
हरीकेन और टाइफून एक ही प्रकार के चक्रवातों के अलग-अलग नाम हैं। ये साइक्लनों की तुलना में अधिक शक्तिशाली होते हैं। इनमें पवन की गति 120 किमी. प्रति घंटे से भी अधिक हो

जाती है और ये साइक्लनों की अपेक्षा अधिक बड़े क्षेत्र को प्रभावित करते हैं।

इनसे कम शक्तिशाली चक्रवातों को मौसमवैज्ञानिक "उष्ण कटिबंधीय तूफान" (ट्रॉपिकल स्टॉर्म) कहते हैं। यद्यपि इनमें भी बादल उपस्थित होते हैं और वे भी वर्षा करते हैं परंतु उनमें पवन की अधिकतम गति 17 से 30 मीटर प्रति सेकंड तक होती है। "उष्णकटिबंधीय अवनमन" (ट्रॉपिकल डिप्रेशन) में भी पवन की गति 17 मीटर प्रति सेकंड से कम होती है।

"हरीकेन" नाम की उत्पत्ति रेड इंडियनों के तूफान के देवता "हुरकन" के नाम से हुई है। इसका शाब्दिक अर्थ है "विशाल पवन"। जब 15वीं शताब्दी में स्पेनवासियों ने वेस्ट इंडीज में प्रवेश किया तब तक उन्हें अपने देश में कभी इतनी शक्तिशाली पवनों का सामना नहीं करना पड़ा था। इसलिए उन्होंने भी इन पवनों को हुरकन (Hurrcan) कहना शुरू कर दिया। बाद में इसी से "हरीकेन" शब्द बना।

"टाइफून" नाम चीनी भाषा के "ताइ फुंग" अर्थात् 'पवन जो टकराती है' शब्द से बना है। कुछ लोगों का यह मत भी है कि "टाइफून" शब्द यूनान के पौराणिक दैत्य "टाइफोन" से उत्पन्न हुआ है जबकि कुछ लोग इसकी उत्पत्ति तूफानी पवनों के जनक "टाइफोइकस" से मानते हैं।



पृथ्वी के वे क्षेत्र जहां चक्रवात बहुतायत से आते हैं।

चित्र : 12

उत्पत्ति : साइक्लोन, हरीकेन और टाइफून के उत्पन्न होने की प्रक्रियाएं एक जैसी ही होती हैं और उसके लिए दो वस्तुएं आवश्यक होती हैं। वे हैं ऊष्मा और नमी। इसीलिए वे केवल उष्ण कटिबंधों

में ही 5 से 20° अक्षांशों के बीच के क्षेत्रों में जहां सागर का ताप 27° से अधिक होता है, उत्पन्न होते हैं। साथ ही उनका जन्म एक क्षुद्र विक्षोभ के रूप में होता है। यह विक्षोभ किस प्रकार इतना विशाल और रौद्र रूप धारण कर लेता है इस बारे में अब भी वैज्ञानिकों को पूर्ण जानकारी नहीं है। पर वे जानते हैं कि इस क्रिया में क्षोभमंडल की ऊपरी और निचली परतों की पवनों के बीच अंतः क्रियाएं होती हैं। सामान्यतः उष्ण कटिबंधों में इन पवनों के बीच बहुत कम अंतः क्रियाएं होती हैं क्योंकि ऊपरी परतों की पवनएं आमतौर से हल्की होती हैं और उनके अभिसारी और अपसारी पैटर्न क्षीण होते हैं। परंतु जब ऊपरी अपसरण नवनिर्मित विक्षोभ के ऊपर से गुजरता है तब चूषण क्रिया आरंभ हो जाती है। यह अपसरण ऊपर उठती हुई वायु को "चूसने" लगता है जिससे सागर सतह पर होने वाली अभिसरण क्रिया प्रबल हो जाती है।

चक्रवात को पूर्ण रूप से विकसित होने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में ऊर्जा की जरूरत होती है और यह ऊर्जा प्राप्त होती है जल वाष्प की गुप्त ऊष्मा से। जब जल वाष्प द्रव में परिवर्तित होती है तब बड़ी मात्रा में (लगभग 536 कैलौरी प्रति ग्राम की दर से) ऊर्जा मुक्त होती है। निश्चय ही वह आसपास के वातावरण के ताप को बढ़ा देती है। इससे वायु गर्म होकर ऊपर उठती है और जैसे-जैसे वह अधिक गर्म होती जाती है उसके ऊपर उठने की दर भी तेज होती जाती है। इसके प्रभावस्वरूप सागर की सतह से और अधिक मात्रा में जल वाष्प से युक्त वायु ऊपर उठने लगती है जिससे और अधिक मात्रा में ऊष्मा मुक्त होने लगती है।

एक बार यह शृंखला-प्रक्रिया आरंभ हो जाने पर वह निरन्तर चलती रहती है और चक्रवात पूरी तरह विकसित हो जाता है। उसमें वायु बहुत तेज गति से, सर्पिलाकार घूमती हुई, ऊपर उठने लगती है। विशाल कपासी मेघ उत्पन्न हो जाते हैं और उनसे मूसलाधार वर्षा होने लगती है। परंतु चक्रवात के अंतरतम भाग में जिसे उसकी "आंख" (आई) कहा जाता है, कोष्ण वायु धीरे-धीरे नीचे उतरती रहती है। चक्रवात के बाह्य अंगों में वायु का दाब बहुत उच्च होता है परंतु उसे अंतरतम भाग में वह निम्न रहता है। उस भाग में न तो बादल रहते हैं और न वर्षा। वास्तव में 'चक्रवात की आंख' बहुत "शांत क्षेत्र" रहता है।

अपने निर्माण के बाद चक्रवात पहले पश्चिम की ओर चलते हैं और फिर भूमध्यरेखिक क्षेत्र से अपना नाता तोड़ते हुए उत्तर या दक्षिण की ओर चल पड़ते हैं। यदि उनके मार्ग में थल आ जाता है तब वे वहां तबाही मचा देते हैं परंतु "कुछ दूरी" तक जाते-जाते अपने ऊर्जा स्रोत से वंचित हो जाने के कारण - जल वाष्प युक्त वायु (जिससे वे वाष्प की गुप्त ऊष्मा प्राप्त करते रहते हैं) की सप्लाई समाप्त हो जाने पर - वे समाप्त हो जाते हैं। वैसे यह "कुछ दूरी" कई सौ किमी. तक की दूरी भी हो सकती है।

यदि चक्रवात सागर पर ही रहे आते हैं, तब वे उस समय तक आगे बढ़ते रहते हैं जब तक उन्हें ठंडा पानी नहीं मिल जाता। वहां उनकी ऊर्जा सप्लाई समाप्त हो जाती है और वे शांत हो जाते हैं।

चक्रवातों के विकास के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि ऊपर उठने वाली वायु में जल वाष्प की मात्रा पर्याप्त नहीं होती अथवा वायु बहुत ठंडी होती है तब उपर्युक्त शृंखला प्रक्रिया आरम्भ ही नहीं होती। इसीलिए हरीकेन केवल उष्ण कटिबंधों के कोष्ण सागरों के ऊपर ही, जहां ताप सदा 27° से. से ऊपर रहता है, बन सकते हैं। इसी कारण वे थल पर चले जाने अथवा उष्ण कटिबंध

से दूर चले जाने पर शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं। साथ ही हरीकेन भूमध्यरेखा पर तथा उसके उत्तर और दक्षिण में 5° अक्षांशों तक की संकरी पट्टी में पैदा नहीं हो सकते। इस पट्टी में कोरिओलिस बल अनुपस्थित होता है। वहां वायु को आरम्भिक घूर्णन बल नहीं मिल पाता। इसलिए वह किसी निम्न दाब वाले क्षेत्र के इर्द-गिर्द घूमना आरंभ नहीं कर पाती। साथ ही इस संकरी पट्टी में जब कभी निम्न दाब क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है तब आसपास की वायु शीघ्र ही वहां पहुंच जाती है। पर इस पट्टी के बाहर कोरिओलिस बल अपना प्रभाव दिखाने लगता है और निम्न दाब वाले क्षेत्र की ओर तेजी से आती हुई वायु को मोड़ देता है। इससे वायु सर्पिलाकार घूमना आरंभ कर देती है।

हरीकेन : हरीकेन स्वयं को जीवित रखने के लिए एक बहुत दक्ष क्रियाविधि का उपयोग करता है। जल वाष्प से युक्त वायु केंद्र की ओर जाते समय कुंडली की भांति घूमती हुई ऊपर उठती है और तब वह वलय कपासी मेघों की दीवार जैसी आकृति बना देती है। इस दौरान मुक्त होने वाली ऊर्जा वायु को और ऊपर उठाने के लिए प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार मेघ, वर्षा और प्रचंड पवन की लगभग 20 किमी. मोटी एक पट्टी बन जाती है। यह पट्टी हरीकेन के केंद्र से लगभग 30 किमी. दूर होती है। इस पट्टी से बाहर मेघ बिखरे होते हैं, वर्षा झोंकों में होती है और पवन का वेग काफी कम होता है। ऊपरी क्षोभमंडल में जल की बुंदकियां बर्फ के रवों में बदल जाती हैं। इनसे कपासी मेघ बन जाते हैं।

ये मेघ पवन के घूमने के फलस्वरूप एक "फैलती हुई अपसारी कुंडली" की आकृति धारण कर लेते हैं। इसलिए उपग्रह से हरीकेन का चित्र लेने पर वह "सर्पिल नीहारिका" सदृश्य दिखता है।

हरीकेन का आंतरिक भाग आमतौर से मेघों से मुक्त होता है। उसमें कोष्ण वायु, मंद गति से, नीचे की ओर आती रहती है। वहां दाब भी बहुत कम होता है। वहां धरती की सतह पर ताप बहुत थोड़ा बढ़ता है परंतु क्षोभमंडल के मध्य में, लगभग 5.5 किमी. की ऊंचाई पर (लगभग 500 मिलीबार दाब पर), ताप काफी अधिक हो सकता है। उतनी ऊंचाई पर हरीकेन के बाह्य भाग का ताप 20° सें. तक हो सकता है।

हरीकेन का यह कोष्णतर आंतरिक भाग उसका एक आवश्यक अंग होता है। उसी की वजह से उसकी आंख पर कम दाब बना रहता है और आसपास की वायु निरन्तर उस की ओर खिंचती रहती है।

यद्यपि कोई भी दो हरीकेन एकदम समान नहीं होते फिर भी एक सामान्य "प्रौढ़" हरीकेन का व्यास 600 किमी. जैसा विशाल हो सकता है जिसमें वायु घूमती हुई, उसके केंद्र की ओर, 50 मीटर प्रति सैकंड की गति से बहती है। उसकी आंख का व्यास 6 से लेकर 40 किमी. तक, कितना भी बढ़ा, हो सकता है। हरीकेन के केंद्र में दाब 950 मिलीबार जैसा कम होता है, यद्यपि सर्वाधिक ज्ञात निम्न दाब 870 मिलीबार पाया गया। अक्टूबर 1979 में गॉम द्वीप (प्रशांत महासागर) पर से गुजरने वाले एक हरीकेन का व्यास 2220 किमी. था और उसमें पवन की अधिकतम गति 85 मीटर प्रति सैकंड जैसी तीव्र थी। यह गति इतनी अधिक थी कि आंधी में उड़ता हुआ लकड़ी का एक पट्टिया नारियल के पेड़ को काटता हुआ निकल गया था और छतों पर कीलों से कसी टिन की चादरें उतर कर पत्तों की भांति उड़ने लगी थीं।

हरीकेनों के विस्तार और वेग के समान ही उनके द्वारा की जाने वाली वर्षा की मात्रा भी बहुत

अधिक होती है। एक हरीकेन के दौरान 80 से 150 मिमी. वर्षा हो जाना आम बात है। यद्यपि जब पवन की गति 25 मीटर प्रति सैकंड से अधिक हो जाती है तब प्रचलित वर्षामापक यंत्र वर्षा को मापने में असमर्थ हो जाते हैं। उस समय अधिकांश पानी की बूंदें पवन के साथ "उड़" जाती हैं।

कूछ हरीकेनों के वर्षा करने के रिकार्ड वास्तव में आश्चर्यजनक हैं। वर्ष 1896 में मॉरीशस में आए एक हरीकेन ने चार दिनों में 1200 मिमी. (47 इंच) पानी बरसा दिया था। पर बागुइओ (फिलीपीन) में वर्ष 1911 में हरीकेन ने केवल एक ही दिन में 1170 मिमी. (46 इंच) वर्षा कर दी थी। विचित्र बात यह थी कि इतना पानी बरसा देने के बाद भी उसका "गुस्सा" ठंडा नहीं हुआ था। अतएव वह और तीन दिन तक पानी बरसाता रहा था। इस प्रकार चार दिनों में उसने कुल 2200 मिमी. (56 इंच) पानी बरसाया था। इतनी अधिक वर्षा का एक कारण जल वाष्प से भरी पवन का जबरदस्ती ऊपर उठना भी था। वैसे मैदानों में भी हरीकेन भयंकर वर्षा कर देते हैं।

इतनी भारी वर्षा के लिए ऊर्जा की बहुत विशाल मात्रा चाहिए। यह ऊर्जा पवन में उपस्थित जल वाष्प के पानी में परिवर्तित होने के फलस्वरूप प्राप्त होती है। यही ऊर्जा चक्रवात को आगे बढ़ने में मदद देती है। ऊर्जा की इस मात्रा का अनुमान एक आम हरीकेन के मेघों से मुक्त होने वाली ऊर्जा से लगाया जा सकता है। वह 10×10^{12} किलोवाट-अवर प्रति दिन जैसी होती है। यह मात्रा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देश, जो विश्व में सबसे अधिक ऊर्जा का उत्पादन करता है, के वार्षिक उत्पादन से 1000 गुनी अधिक है।

जिस वस्तु में इतनी ऊर्जा भरी हो वह कितना कहर ढा सकता है इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। एक अकेला हरीकेन किसी भी छोटे द्वीप का सम्पूर्ण भूगोल ही बदल सकता है। वह उन संरचनाओं को, जो हजारों वर्षों से सामान्य मौसम के थपेड़ें खाकर भी भलीभांति खड़ी रहती हैं, पल भर में, समूल नष्ट कर सकता है। हरीकेन की वेगवान पवनें कुछ घंटों में ही खड़ी फसलों को एकदम तहस-नहस कर सकती हैं। वे पूरी बस्ती को उजाड़ सकती हैं। भाग्यवश ऐसे हरीकेन बहुत कम आते हैं।

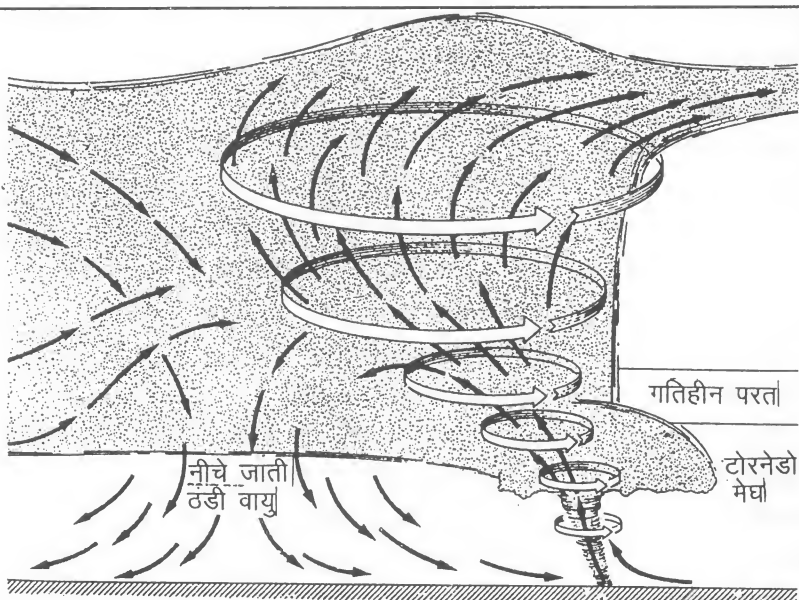
हरीकेन के समशीतोष्ण कटिबंध में प्रवेश कर जाने पर उसका व्यवहार बदल जाता है। वहां वह आमतौर पर एक साधारण-सा तूफान बन कर ही रह जाता है। परन्तु वहां पश्चिमी पवनों की निम्न दाब की सक्रिय, नम, द्रोणिका मिल जाने पर उसे पुनः जीवन मिल जाता है।

सागर से थल पर आ जाने के तुरन्त बाद हरीकेन धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। उसके निचले भाग में बहने वाली पवन पर्याप्त रूप से नम नहीं रह पाती। फलस्वरूप हरीकेन को समुचित मात्रा में ऊर्जा नहीं मिल पाती और वह धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। उसकी आंख "लुप्त" हो जाती है और पवनों की गति धीमी हो जाती है। जहां तक उसके द्वारा की जाने वाली वर्षा का प्रश्न है उसमें वृद्धि होने लगती है क्योंकि अब पवन को, उस समय की तुलना में जब हरीकेन सागर पर था, अधिक घर्षण सहन करना पड़ता है। इससे वह धीमी तो पड़ती ही है साथ ही हरीकेन की आंख की ओर भी मुड़ जाती है। वहां वह ऊपर की ओर उठती है और अपने में भरी हुई जल वाष्प को अधिक से अधिक मात्रा में त्याग देती है। इससे काफी बड़े क्षेत्र पर जोर की वर्षा होती है। यद्यपि हरीकेन का सागर से थल की ओर आगमन उसके 'अंत की शुरुआत' होती है पर इसी स्थिति में वह सर्वाधिक प्रलयकारी होता है।

टोरनेडो : जहां तक एक सीमित क्षेत्र में प्रचंड विनाश लीला करने का प्रश्न है कोई भी तूफान, आंधी, झंझा इतना प्रलयकारी नहीं होता जितना टोरनेडो। वैसे टोरनेडो भी हरीकेनों की भांति अत्यंत चंचल, वेगवान, शक्तिशाली वायुराशि होती है जो निम्न दाब के क्षेत्र के इर्द-गिर्द, सर्पिल आकार में, अत्यंत तेजी से घूमती है। परन्तु दोनों की समानता यहां ही समाप्त हो जाती है। एक आम हरीकेन का व्यास 500 किमी. तक हो सकता है जबकि एक बड़े टोरनेडो का व्यास केवल 500 मीटर ही होता है। छोटे टोरनेडो तो व्यास में 50 मीटर ही होते हैं। वे भूमि पर केवल 100 फुट (30 मीटर) तक जा सकते हैं और 100 मील (160 किमी.) तक भी। जब टोरनेडो पूरे 'जोश' में होता है तब वास्तव में बादलों में से एक पतली-सी धारा निकल कर धरती तक आ जाती है। आमतौर से इस धारा की आकृति चाड़ी जैसी होती है — ऊपर से चौड़ी और नीचे से पतली। पर उसकी आकृति हाथी की सूंड जैसी पतली, अथवा बटी हुई रस्सी जैसी भी हो सकती है।

यद्यपि हरिकेन काफी बड़े क्षेत्र में, काफी देर तक तबाही मचाता रहता है पर उसकी विनाश लीला की भयंकरता इतनी अधिक नहीं होती जितनी टोरनेडो की छोटे क्षेत्र में होती है। यह विनाश लीला कुछ मिनटों में ही सम्पन्न हो जाती है।

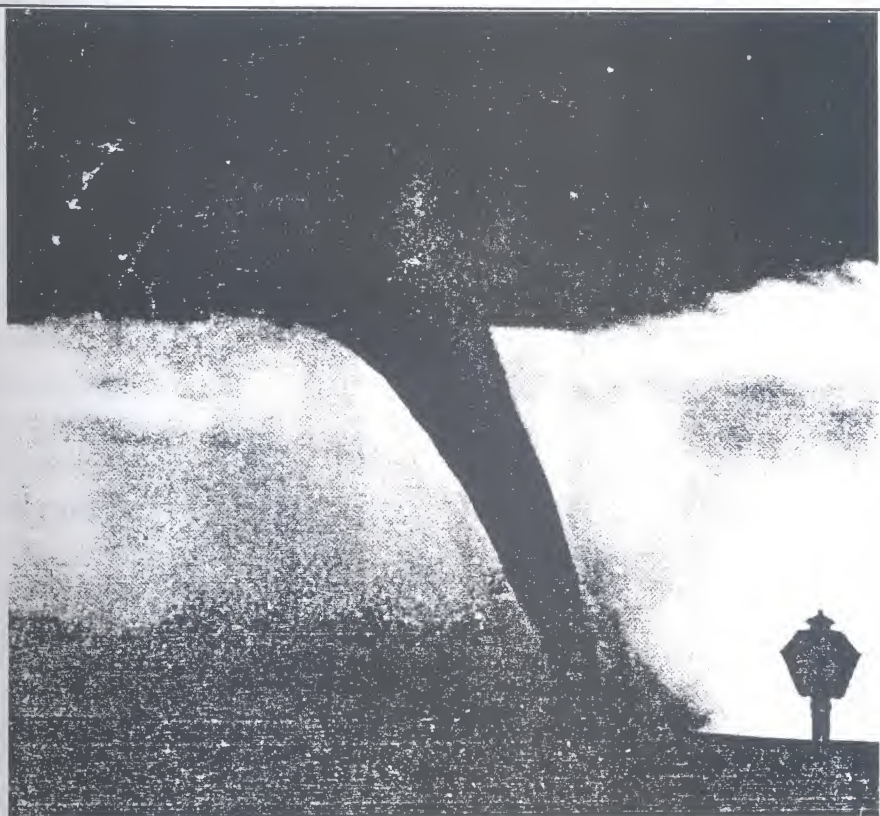
“टोरनेडो” शब्द की उत्पत्ति स्पेनिश भाषा के “त्रोनादा” (tronada) से हुई है जिसका अर्थ है “तड़ित् झंझा” यानी तेज आंधी, काले मेघ मूसलाधार वर्षा और बिजली का रह-रह कर चमकना। वास्तव में टोरनेडो में ये सब होते हैं और साथ ही होती है एक हरी-पीली रोशनी जो रह-रह कर चमकती रहती है और पूरे इलाके को रोशन करती रहती है। इससे काले बादल आश्चर्यजनक रूप से हरे और पीले दिखने लगते हैं। टोरनेडो में भयंकर गडगड़ाहट होती है जो ऐसी लगती है मानों कहीं निकट ही हजारों एक्सप्रेस गाड़ियां पूरी रफतार से दौड़ रही हों।



टोरनेडो झंझा

यद्यपि टोरनेडो पृथ्वी के अनेक भागों में आते हैं परंतु जितनी जल्दी-जल्दी और जितने भयंकर रूप में वे संयुक्त राज्य अमेरिका में आते हैं उतने अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। वहां हर वर्ष 500 से 600 तक टोरनेडो आते हैं। वहां भी एक पट्टी है जो टेक्सास से आरंभ होकर कंसास होती हुई इलीनॉय तक और उसके बाद कनाडा तक चली जाती है। यह विशेष रूप से "टोरनेडो-ग्रस्त" क्षेत्र है। इस पट्टी में ही सबसे अधिक टोरनेडो आते हैं। वैसे तो टोरनेडो वर्ष के किसी भी समय आ सकते हैं पर अप्रैल से सितम्बर तक का समय इनका "मनपसंद" समय है। उस दौरान ये सबसे अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं। मजेदार बात यह है कि इनमें से अधिकांश दोपहर बाद, दिन के सर्वाधिक गर्म भाग के बीत जाने के बाद, आते हैं।

हरीकेन की भांति टोरनेडो के अंदरूनी भाग में भी वायु का दाब कम होता है पर वह हरीकेन की अपेक्षा बहुत कम होता है। इसीलिए जब टोरनेडो किसी इमारत पर से गुजरता है उस समय इमारत के इर्द-गिर्द के क्षेत्र की वायु का दाब इमारत के अंदर के वायु दाब से बहुत कम हो जाता है। इससे इमारत अकसर फट जाती है। साथ ही टोरनेडो में अत्यंत वेग से ऊपर उठती पवन इतनी शक्तिशाली होती है कि अकसर ही जानवरों या आदमियों को अपने साथ उड़ा ले जाती है।



टोरनेडो फनल

कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार जब तीव्र गति से बहने वाली ठंडी, सूखी, वायु नम, कोष्ण वायु के नीचे न जाकर उसके ऊपर चली जाती है तब भयंकर असन्तुलन पैदा हो जाता है। उस समय कोष्ण वायु बहुत तीव्र गति से कभी-कभी 300 किमी. जैसी तीव्र गति से ऊपर उठने लगती है। बाजुओं से बहने वाले प्रवाह इस वायु को घुमा देते हैं। इस प्रकार जो भंवर पैदा हो जाता है वह घूमने लगता है। इससे टोरनेडो उत्पन्न होता है।

यद्यपि टोरनेडो की प्रबल वातावर्त (वर्लविंड) की गति अब तक भी सही-सही मापी नहीं जा सकी है, क्योंकि कोई भी यंत्र टोरनेडो के अंधड़ के सामने टिक नहीं पाता, परन्तु परोक्ष तरीकों से लगाए गए अनुमानों से वह 150 से 250 मील (240 से 400 किमी.) प्रति घंटे तक होती है। साथ ही टोरनेडो के किनारों पर छोटे-छोटे सहायक वर्त लगातार बनते-बिगड़ते रहते हैं और झोंके उत्पन्न करते रहते हैं। ये झोंके मुख्य पवन प्रवाह से कहीं अधिक शक्तिशाली और विनाशकारी होते हैं।

टोरनेडों के इतने शक्तिशाली होने के कारण उनकी संहारक शक्ति भी बहुत अधिक होती है। वे न केवल झोंपड़ियों की छतों को उड़ा देते हैं, उनकी दीवारों को गिरा देते हैं वरन् पक्की इमारतों की खिड़कियों, दरवाजों को तोड़ते हुए उन्हें भी तहस-नहस कर देते हैं। वे खड़ी फसलों को नष्ट कर देते हैं, पेड़ों को उखाड़ देते हैं, बिजली के खम्भों को गिरा देते हैं, और वे भी अपने साथ भयंकर वर्षा लाते हैं। भयंकर गति से बहती हुई आंधी में इतनी ताकत होती है कि रेलगाड़ी के भारी इंजन भी अपनी पटरी से नीचे गिर जाते हैं। हल्की मोटर कारें तो आंधी के साथ उड़ ही जाती हैं। इस भयंकर आंधी में बंदूक की गोली की गति से उड़ते धूल कण लोगों के मांस में घुस जाते हैं। विडम्बना यह है कि टोरनेडो की गिरफ्त में फंसे लोगों को पक्की इमारतें भी पूर्ण सुरक्षा प्रदान नहीं कर पातीं क्योंकि टोरनेडो के समक्ष वे स्वयं को 'असहाय महसूस करने लगती हैं।'

इसीलिए संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे प्रगतिशील देश में भी टोरनेडो से हर वर्ष सैकड़ों लोगों की मृत्यु हो जाती है और करोड़ों-अरबों डालर मूल्य की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है।

टोरनेडो के बारे में एक विचित्र तथ्य यह है कि सन् 1916 के बाद से टोरनेडों की संख्या में अचानक वृद्धि हो गई है। अधिकांश व्यक्ति इसका कारण टोरनेडो के आगमन की सूचना देने वाली प्रणाली की बढ़ी हुई दक्षता को बताते हैं। पर कुछ लोगों का मत है कि टोरनेडो की उत्पत्ति और सूर्य के धब्बों के आगमन चक्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है। जैसा कि आप जानते हैं कि सूर्य के धब्बों की क्रियाशीलता में वृद्धि के चक्र का काल 11 वर्ष से कुछ अधिक होता है। ऐसे चार चक्र-कालों तक (लगभग 45 वर्षों तक) टोरनेडो की संख्या में वृद्धि होती रहती है। बाद में अगले 45 वर्ष के चक्र में वह घटने लगती है। पर इस बारे में कोई स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करने से पहले काफी शोध और अध्ययन करने होंगे।

अध्याय चार

वर्षा, बादल और बिजली

यद्यपि प्राचीन और मध्य युगों में वर्षा होने की प्रक्रिया के बारे में समय-समय पर अनेक लोग अपनी परिकल्पनाएं प्रस्तुत करते रहे हैं परन्तु उनमें से अधिकांश मात्र अटकलें ही थीं। उन्नीसवीं सदी में बादलों की उत्पत्ति और उनसे वर्षा होने के बारे में वैज्ञानिक सिद्धांतों की खोज हुई। वर्ष 1830 में पहली बार यह सुझाया गया कि ऊपर उठती हुई कोष्ण वायु और वायुमंडल में उपस्थित जल वाष्प के द्रवीभूत होने के बीच घनिष्ठ संबंध होता है। उसके बाद अनेक देशों में विभिन्न वैज्ञानिकों ने बादलों के निर्माण और उनसे वर्षा होने के बारे में वर्षों तक प्रयोग किए। वायुयान के आविष्कार से पहले ये प्रयोग धरती पर ही किए जाते थे। बाद में वायुमान में उड़ान भर कर, बादलों के ऊपर जाकर, उनकी संरचना और प्रकृति के अध्ययन किए गए। अंतरिक्ष युग का आरम्भ होने पर, वर्ष 1959 में, प्रथम बार मिसाइल की मदद से धरती से लगभग 1130 किमी. ऊंचाई से बादलों के चित्र लिए गए। अप्रैल 1960 में मौसम उपग्रह "टाइरोस" (टेलीविजन इंफ्रारेड आब्जरवेशन सैटेलाइट) — के प्रक्षेपण के बाद बादलों की प्रकृति का रहस्योद्घाटन करने के लिए मौसम उपग्रहों का उपयोग किया जाने लगा। इन मौसम उपग्रहों ने 725 किमी. ऊंचाई से, बादलों के ऊपरी भागों के ऐसे चित्र लिए, जिन्हें उससे पूर्व लेना संभव न था। उपग्रहों से प्राप्त जानकारीयों तथा चित्रों की मदद से अब हर मौसम वेधशाला में बादलों के मानचित्र बनाए जा सकते हैं।

आज हमारे पास बादलों तथा वर्षा के बारे में रडार, रेडियोसॉन्डे, लेज़र आदि युक्तियों द्वारा अर्जित की गई तथा उपग्रहों में लगे उपकरणों, कैमरों आदि द्वारा प्रेषित जानकारीयों का भंडार है। मौसमवैज्ञानिकों के लिए अब बादल पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं।

आज हमें बादलों और वर्षा के बारे में जो आंकड़े प्राप्त हैं उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : बादलों के माध्यम से हर वर्ष लगभग 3,96,000 घन किमी. पानी परिसंचरित होता है। इन बादलों में जो पानी उपस्थित होता है उसमें से लगभग 3,33,400 घन किमी. सागरों से और 62,600 घन किमी. थलीय जल राशियों — नदियों, झीलों आदि — से तथा वनस्पति से प्राप्त होता है। लेकिन वायुमंडल अंततः पानी की इस संपूर्ण मात्रा को वर्षा, हिमपात, ओले, कोहरे आदि के रूप में धरती को लौटा देता है। इस प्रकार पृथ्वी पर प्रति वर्ष औसतन 102 सेमी. वर्षा होती है। इस वर्षा का लगभग एक चौथाई भाग लगभग 1,00,000 घन किमी. थल पर गिरता है और बाकी सागरों पर। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि थल पर जितनी वर्षा होती है उससे औसतन प्रत्येक व्यक्ति को प्रति दिन लगभग 83,300 लीटर पानी प्राप्त हो सकता है। निश्चय

ही यह मात्रा बहुत अधिक है। इससे किसी भी व्यक्ति को कभी भी, किसी भी काम के लिए, पानी की कमी महसूस नहीं होनी चाहिए किन्तु औसत रूप में दर्शाए गए आंकड़े अकसर ही भ्रामक होते हैं। इसलिए पृथ्वी के अनेक क्षेत्रों में जहां बहुत अधिक - साल में 1170 सेमी. से भी अधिक - वर्षा होती है वहां दूसरी ओर बहुत बड़े भूभाग पानी की कमी के कारण मरुस्थल बन गए हैं। अधिकांश मरुस्थलों में वर्ष भर में 20 सेमी. से भी कम वर्षा होती है। कुछ में तो साल में 2.5 सेमी. पानी भी नहीं बरसता।

विश्व में सबसे अधिक वर्षा लगभग 460 इंच (1170 सेमी.) प्रति वर्ष हवाई द्वीप के माउंट वैआलेआले (Waialeale) में होती है। हमारे देश में सबसे अधिक वर्षा, 425 इंच (10,900 मिमी.) प्रति वर्ष, चेरापूंजी (मेघालय) में होती है। साथ ही चेरापूंजी में लगातार 15 दिनों तक वर्षा होते रहने का भी विश्व रिकार्ड है (तालिका - 1)

तालिका 1 : वर्षा संबंधी रिकार्ड

वर्षा की अवधि तक वर्षा हुई	वर्षा की मात्रा मिमी. में	स्थान	तारीख
01 मिनट	31.2	यूनियनविले मैरीलैंड	04 जुलाई, 1966
05 मिनट	63.0	पोर्टो बेलो, पनामा	29 नवंबर, 1911
08 मिनट	126.0	फ्यूसान, जर्मनी	25 मई, 1920
15 मिनट	198.1	प्लम्ब पॉईंट, जमैका	12 मई, 1916
20 मिनट	205.7	कुरति दे आरमेज, रोमानिया	07 जून, 1947
42 मिनट	304.8	हॉइट, संयुक्त राज्य अमेरिका	28 फरवरी, 1964
09 घंटे	1,088.9	बेलूवे, रियूनियन	28-29 फरवरी, 1964
12 घंटे	1,340.1	बेलूवे, रियूनियन	15-16 मार्च, 1952
24 घंटे	1,870.0	सिलाओस, रियूनियन	15-17 मार्च, 1952
02 दिन	2,499.9	सिलाओस, रियूनियन	12-19 मार्च, 1952
07 दिन	4,110.0	सिलाओस, रियूनियन	24 जून, 08 जुलाई 1931
15 दिन	4,797.0	सिलाओस, रियूनियन	जुलाई 1861
31 दिन	9300.0	चेरापूंजी, भारत	जून-जुलाई, 1861
02 महीने	12,766.8	चेरापूंजी भारत	अप्रैल-सितंबर, 1861
06 महीने	22,454.5	चेरापूंजी भारत	अप्रैल-सितंबर, 1861
01 वर्ष	26,461.2	चेरापूंजी भारत	अगस्त 1860 जुलाई 1861
02 वर्ष	40,768.3	चेरापूंजी भारत	1860-1861

द्रवीकरण

वर्षा चाहे फुहारों के रूप में हो अथवा मूसलाधार, वह हमेशा जल वाष्प के ठंडी होने से होती है। सामान्य परिस्थितियों में पानी के उच्च ऊर्जायुक्त वाष्प अवस्था में रहने और वायु के ताप के बीच सीधा संबंध

होता है। वाष्प का ताप जितना अधिक होगा उसके अणु उतनी ही तेजी से गति करेंगे। जब ये अणु तेजी से गति कर रहे होते हैं तब वे अपेक्षाकृत कम जगह में ही समा जाते हैं। उस समय न तो वे आपस में एक दूसरे से और न ही निकट की किसी ठोस वस्तु से चिपकते हैं। इस प्रकार गर्म वायु की वाष्प धारण-क्षमता काफी अधिक होती है। परन्तु वायु के ठंडी हो जाने पर अणुओं की गति धीमी हो जाती है और तब वे अन्य वस्तुओं से अथवा आपस में टकराते हैं और चिपकने लगते हैं। दूसरे शब्दों में वाष्प पानी में बदलने लगती है।

वायु में मौजूद वाष्प की मात्रा ही वह ताप निर्धारित करती है जिस पर द्रवीकरण आरम्भ होता है। यदि वायु में वाष्प के अणु कम मात्रा में मौजूद होते हैं तब वे निम्न ताप पर भी, आपस में, कम टकराते हैं। इसलिए भाप का द्रवीकरण आरम्भ होने के अवसर कम हो जाते हैं। इसके विपरीत वायु में वाष्प के अणुओं की सान्द्रता अधिक होने से वाष्प अपेक्षाकृत ऊँचे ताप पर भी पानी में बदलने लगती है। वह ताप जिस पर वायु में मौजूद वाष्प द्रवीभूत हो जाती है "ओसांक" कहलाता है।

वायुमंडल में उपस्थित वाष्प के पानी में बदलने की क्रिया को वायु के ताप और वाष्प की मात्रा के अतिरिक्त एक अन्य कारक भी प्रभावित करता है। वह है — उन सतहों अथवा कणों की उपस्थिति जिन पर वाष्प द्रवीभूत हो सकती है। इस प्रकार की वस्तुओं की अनुपस्थिति में द्रवीकरण की क्रिया बहुत धीमी होती है। प्रयोगशाला में किए गए अध्ययनों में पाया गया है कि भली-भांति छनी हुई वायु की (जिसमें से धूल आदि के कण अलग कर दिए गए थे) वाष्प — धारण क्षमता धूल कणों से युक्त वायु की तुलना में चार गुनी कम होती है।

धरती पर ऐसी सतहों (वस्तुओं) की कमी नहीं होती जिनके सम्पर्क में आने पर वाष्प शीघ्र ही द्रवीभूत होने लगती है। धरती पर वाष्प को पानी में बदलने के लिए बादलों की अवस्था में से गुजरने की जरूरत नहीं होती। इसीलिए सर्दियों के दिनों में रात के समय, वायु में मौजूद जल वाष्प घास-पतियों आदि के सम्पर्क में आने पर शीघ्र ही ओस में बदल जाती है। जिन क्षेत्रों में ठंड अधिक पड़ती है वहां वाष्प सीधी हिम में भी बदल सकती है।

यद्यपि धरती के ऊपर वायुमंडल में ऐसी सतहें मौजूद नहीं होतीं परन्तु वहां अकसर ही धूल के बारीक कणों की कमी नहीं होती। खुले सागर के ऊपर इन कणों की मात्रा लगभग 100 कण प्रति घन इंच (16.4 घन सेमी.) होती है जबकि किसी अत्यन्त प्रदूषित शहर के ऊपर वायु में इनकी मात्रा 6.5 करोड़ प्रति घन इंच जैसी विशाल भी हो सकती है। परन्तु सागर तथा तटवर्ती क्षेत्रों के वायुमंडल में नमक के सूक्ष्म कणों की मात्रा काफी होती है। ये कण वायुमंडलीय वाष्प को पानी में बदलने की क्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

इसी प्रकार जंगलों आदि में लगी भीषण आग, कारखानों का धुंआ और मोटर वाहनों का एग्जास्ट भी वायुमंडल में बहुत बड़ी संख्या में कार्बन तथा अन्य रसायनों के ऐसे ही कण भेज देते हैं। इन पर वाष्प के अणु जमा होकर द्रवीभूत हो सकते हैं। मिट्टी और चट्टानों से उठने वाली धूल के कण भी वायुमंडलीय वाष्प के द्रवीकरण में बहुत योग देते हैं। इन कणों की द्रवीकरण-नाभिक के रूप में क्षमता इनके आकार और जल अणुओं के इनसे चिपक सकने की क्षमता पर निर्भर होती है।

आमतौर पर ट्रोपोस्फीयर के हर क्षेत्र में इन कणों की इतनी मात्रा उपस्थित होती है कि वाष्प अपने सामान्य ओसांक के निकट के ताप पर ही द्रव में बदल जाती है।

कोहरा और धुंध

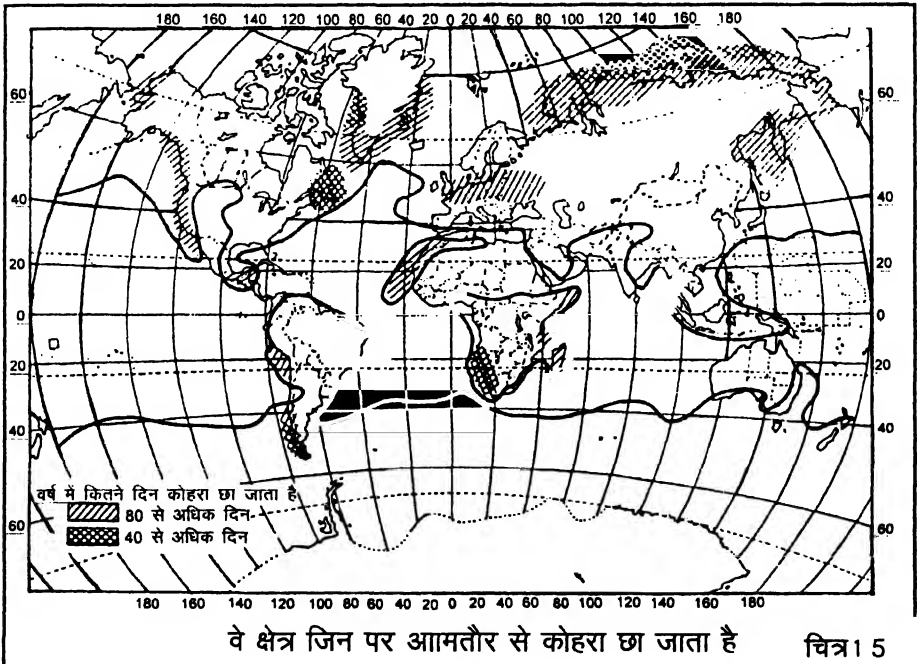
ठंडे क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को सर्दियों के दिनों में अकसर ही एक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उन दिनों सुबह के समय आमतौर पर लोगों की देखने की क्षमता काफी कम हो जाती है। ऐसा सर्दी से उत्पन्न होने वाली किसी शारीरिक व्याधि के कारण नहीं वरन् एक प्राकृतिक घटना, कोहरा छा जाने, के फलस्वरूप होता है। कोहरे से लोगों की "दृश्यता" (विजिबिलिटी) कम हो जाती है। हमारे देश में भी, विशेष रूप से पहाड़ी इलाकों में सर्दी की ऋतु में कोहरा छा जाता है।

कोहरे को हम "घरती की सतह के निकट उतर आने वाला बादल" भी कह सकते हैं। बादल में जल की सूक्ष्म बुंदकियां हवा में तिरती रहती हैं। ये बुंदकियां हवा के साथ उठती-गिरती अथवा जमा होती रहती हैं। ये बुंदकियां वायुमंडल के ताप में कमी हो जाने से उसमें उपस्थित वाष्प के जल में परिवर्तित होने के फलस्वरूप बनती हैं।

जब बुंदकियां बहुत सघन हो जाती हैं तब कोहरा "धुंध" में बदल जाता है। निश्चय ही कोहरे और धुंध में केवल बुंदकियों की सघनता का ही अंतर होता है। इसलिए मौसमवैज्ञानिक हेज, धुंध और कोहरे में दृश्यता में कमी करने की उनकी क्षमता के अनुसार ही अंतर करते हैं।

हेज में दृश्यता घटकर 2 से 5 किमी. तक, धुंध में 1 से 2 किमी. तक और कोहरे में एक किमी. से भी कम हो जाती है।

ऊपर हमने "दृश्यता" का उपयोग 'उसे समझाए बिना ही' कई बार कर दिया। इसलिए पहले उसे परिभाषित करना श्रेयस्कर होगा। "दृश्यता वह अधिकतम क्षैतिज दूरी है जिस पर वस्तुओं को स्पष्ट रूप से देखा और पहचाना जा सकता है।"



यद्यपि यह समझा जाता है कि कोहरा और धुंध केवल सर्दी की ऋतु में ही छाते हैं पर सदैव ऐसा नहीं होता। विकिरण कोहरा रात में, जब आसमान पर बादल नहीं आए होते, तब ताप के ओसांक तक नीचे गिरने से वायु में उपस्थित नमी के जल बुंदकियों में परिवर्तित होने के फलस्वरूप, पैदा होता है।

अभिवहन (एडविकशन) कोहरा उस समय पैदा होता है जब अपेक्षाकृत कोष्ण, नम, वायु ठंडी धरती पर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती है। इस प्रकार का कोहरा उस समय भी बनता है जब पहले से बना कोहरा स्थानांतरित होता है।

समुद्री कोहरा या 'समुद्री धुआ' उस समय बनता है जब सागर की सतह के कोष्ण जल से ऊपर उठने वाली वाष्प सागर के ऊपर छाई हुई ठंडी वायु की परत से मिलने पर जल-बुंदकियों में परिवर्तित हो जाती है।

ढाल के ऊपर की ओर बनने वाला कोहरा, वाताग्र कोहरा (फ्रंटल फॉग), उस समय बनता है जब वाताग्र सतह के साथ वर्षा होती है अथवा वहां बहुत निम्न मेघ उपस्थित होते हैं।

कोष्ण प्रदेशों में कोहरा शीत ऋतु में ही, आमतौर से सुबह के समय, बनता है और दिन के चढ़ने के साथ, वायु के गर्म होने पर, समाप्त हो जाता है।

सघन हो जाने पर कोहरा धुंध में बदल जाता है परंतु वायुमंडल में धूल के कण मौजूद होने पर धुंध उस समय भी छा जाती है जब हवा में नमी की मात्रा उस से कहीं कम होती है जो कोहरे के निर्माण के लिए जरूरी होती है। इसका कारण यह है कि धूल के बारीक कण वाष्प के द्रवीकरण के लिए नाभिकों का कार्य करते हैं।

हेज़ के निर्माण में वायु में अत्यंत सूक्ष्म कणों का निलंबन सहायक होता है। ये सूक्ष्म कण धूल अथवा रेत के ऐसे कण हो सकते हैं जो तेज पवन के साथ वायुमंडल में ऊपर उठ जाते हैं। अगर वर्षा इन्हें वायुमंडल में से बहाकर अलग नहीं कर देती तब ये पवन के साथ बहुत दूर तक चले जाते हैं। कई बार सहारा मरुस्थल के बारीक धूल कण उड़कर उत्तरी यूरोप तक पहुंच जाते हैं। वहां वे बारीक लाल रंग की धूल के रूप में जमा हो जाते हैं। कभी-कभी जब व्यापारी पवन इन्हें अपने साथ उड़ा ले जाती हैं तब ये वैस्ट इंडीज तक पहुंच जाते हैं।

कारखानों से निकलने वाला अथवा किसी भीषण आग से निकलने वाला धुआ भी अनेक बार धुंध का कारण बन जाता है और दृश्यता को बहुत कम कर देता है। अगर धुआ कोहरे के साथ मिल जाता है, जैसा कि ठंडे प्रदेशों में सर्दी की ऋतु में अक्सर हो जाता है, तब धूम-धुंध (स्मॉग) का निर्माण होता है। धूम-धुंध में दृश्यता तो बहुत घट ही जाती है वह स्वास्थ्य को भी बहुत हानि पहुंचाता है। इसके कारण अनेक लोग ब्रोंकाइटिस जैसे रोगों से पीड़ित हो जाते हैं।

धूम-धुंध में पानी की भाप धुएं के कणों (कार्बन के बारीक कणों) पर द्रवीभूत होने लगती है। इसीलिए यह कोहरे की तुलना में जल्दी जमने लगता है परंतु देर से हटता है। शरद और ठंड की ऋतुओं में, विशेष रूप से जब ताप विलोमन की घटना-कोष्ण, हल्की, वायु के ऊपर ठंडी और भारी वायु की परत स्थित हो जाने की घटना - बार-बार होती है तब धूम-धुंध लगातार कई दिनों तक छाया रह सकता है। साथ ही यह उन स्थानों पर अपेक्षाकृत अधिक बनता है जहां स्थानीय संवातन (वेन्टीलेशन) सीमित रहता है। विडंबना यह है कि अधिकांश शहर ऐसे ही क्षेत्रों में बसे हुए हैं। इसीलिए

बड़े औद्योगिक शहरों के वातावरण में धूम-धुंध अधिक छाता है। यूरोप और अमेरिका के अनेक महानगर इसके लिए कुविख्यात हैं।

प्रकाशरासायनिक धूम-धुंध तो पूर्णतः मानव निर्मित होता है। उसके निर्माण पर वायुमंडल में उपस्थित नमी की मात्रा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह ओटोमोबाइल एग्जास्ट के धुएं पर सूर्य के प्रकाश के पड़ने से बनता है और मुख्यतः नाइट्रोजन डाइआक्साइड, ओजोन और पी.ए.एन. (पैरोक्सिएसिल नाइट्रेट) का मिश्रण होता है। यह मिश्रण आंखों में चिरमिराहट तथा खांसी और थकान पैदा कर देता है। यह काफी समय तक हवा में तिरता रहता है।

बादल

कोहरा धरती की सतह पर बनता है पर बादल धरती की सतह से काफी ऊंचाई पर बनते हैं। वे उस समय बनते हैं जब नम वायु ऊपर की ओर धकेली जाती है और फैलने की क्रिया के दौरान वह ठंडी हो जाती है। यदि उस वायु राशि में ताप ओसांक तक नीचे गिर जाता है तब उसमें उपस्थित वाष्प तिरते हुए कणों पर द्रवीभूत होने लगती है। इस प्रकार बहुत सूक्ष्म, 0.001 सेमी. जैसी सूक्ष्म, बुंदकियां बन जाती हैं। ये बुंदकियां बहुत हल्की होती हैं। इसलिए वायु के प्रतिरोध का मुकाबला करके धरती पर गिर नहीं पाती। वायु के साथ तिरती रहती हैं।

आप जानते हैं कि सब बादल आकाश में एक-सी ऊंचाई पर स्थित नहीं होते। कुछ धरती की सतह से 18 किमी. की ऊंचाई पर स्थित होते हैं तो कुछ केवल 2 किमी. जैसी ऊंचाई पर। वैसे ध्रुवीय प्रदेशों की अपेक्षा भूमध्यरेखिक क्षेत्र में बादल अधिक ऊंचाई पर स्थित होते हैं। इसका कारण यह है कि भूमध्यरेखिक क्षेत्र में क्षोभसीमा अपेक्षाकृत अधिक ऊंचाई पर स्थित होती है।

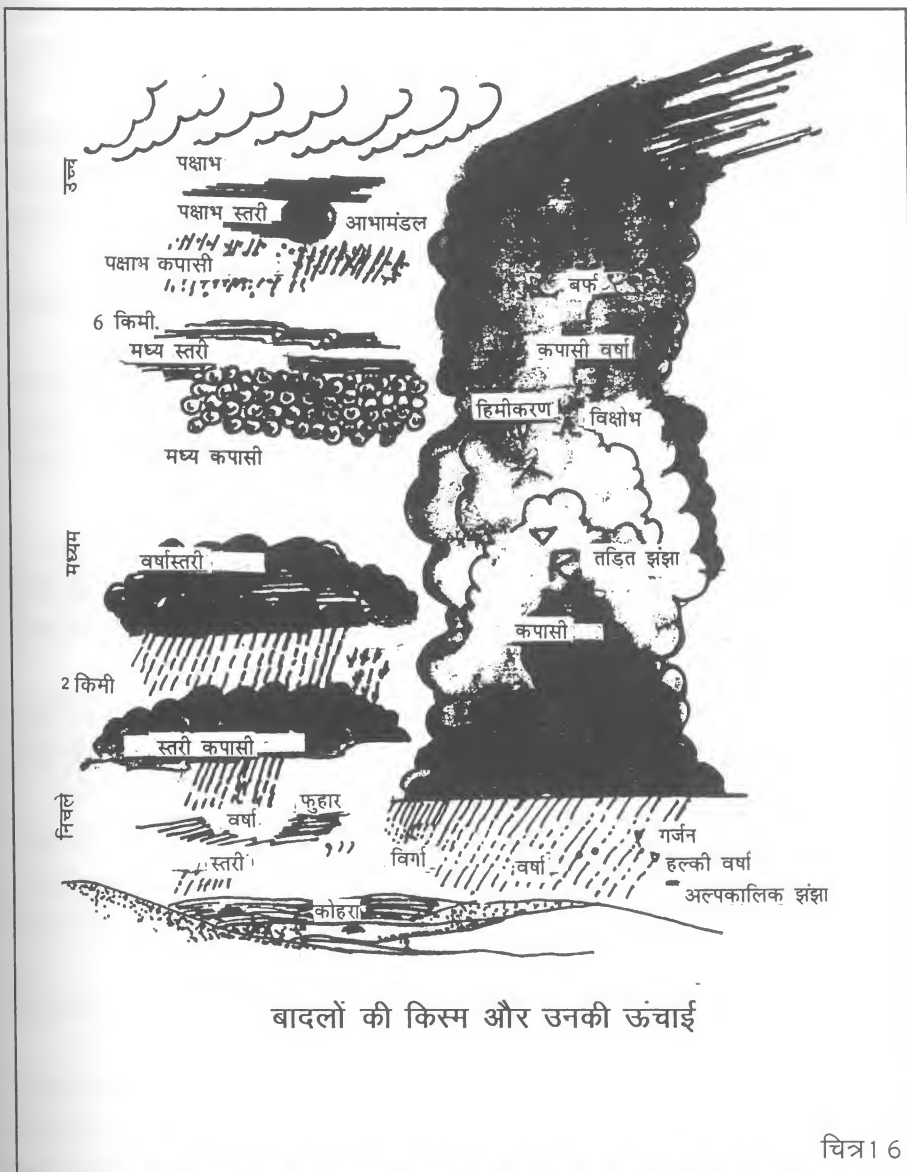
बादलों के बनने की क्रिया को समझने के लिए उन्हें विभिन्न वर्गों में बांटना बेहतर होता है। इसके लिए विश्व मौसमविज्ञान संगठन ने एक वर्गीकरण पद्धति सुझायी है। यह उन्नीसवीं सदी के ब्रिटिश रसायनज्ञ और क्लेक ल्यूक हावर्ड द्वारा सुझायी गई पद्धति पर आधारित है। इसके अनुसार बादलों को धरती से दिखायी देने वाली उनकी आकृतियों के अनुसार तीन आधारभूत वर्गों में बांटा जा सकता है। ये वर्ग हैं: पक्षाभ (सिरस), स्तरी (स्ट्रेटस) और कपासी (कुमुलस)।

यद्यपि ये बादलों के प्रमुख वर्ग हैं पर इनके अनुसार उन्हें सही-सही वर्गीकृत करना बहुत कठिन होता है, क्योंकि अधिकांश समय आकाश में मिले-जुले वर्गों के बादल एक साथ छाए रहते हैं। साथ ही प्रत्येक वर्ग में अनेक भिन्नताएं उत्पन्न हो जाती हैं। इसीलिए मौसमवैज्ञानिकों ने ऐसे उपवर्ग निश्चित कर दिए हैं जिनमें एक से अधिक वर्ग के गुण शामिल होते हैं।

पक्षाभ मेघ : बहुत ऊंचे बादलों को जो धरती से लगभग 6 किमी. या अधिक ऊंचाई पर स्थित होते हैं पक्षाभ कहा जाता है। वहां वायुमंडल का ताप इतना कम होता है कि पानी जम कर बर्फ बन जाता है। इसीलिए उनमें पानी की बुंदकियों के स्थान पर बर्फ के कण मौजूद होते हैं। इससे उनकी रूपरेखा अस्पष्ट हो जाती है। वे सफेद बालों के गुच्छों या पंखों के समान दिखायी देते हैं - मानों किसी चित्रकार ने अपनी कलम से उन्हें सफेद रंग में रंग दिया हो।

पक्षाभ मेघों को आमतौर से दो उपवर्गों में पक्षाभ कपासी (सिरोकुमुलस) और पक्षाभस्तरी (सिरोस्ट्रेटस) में विभाजित किया जाता है। पक्षाभ कपासी मेघ सफेद धब्बों या तहों से बने होते हैं परंतु

ये तहें दानों की छोटी-छोटी समानांतर लहरों के बनी होती हैं। इनमें हिम कण मौजूद होते हैं। आमतौर से इस प्रकार के मेघ मध्यकपासी मेघ में बदल जाते हैं।



बादलों की किस्म और उनकी ऊंचाई

चित्र 16

पक्षाभ स्तरी मेघ बहुत सफेद, पारदर्शी तथा पतली तह वाले मेघ होते हैं जो आमतौर से आकाश का अधिकांश भाग घेर लेते हैं। नीचे से ये चिकने दिखायी देते हैं। ये अल्पपारदर्शी होते हैं। इसलिए इनसे ढके होने पर आकाश आंशिक रूप से दिखायी देता रहता है। इनके द्वारा किरणों के अपवर्तन के कारण ही सूर्य और चंद्रमा के इर्दगिर्द आभामंडल दिखाई देते हैं। ये मुख्यतः हिम कणों या अतिशीतल

जल कणों से बने होते हैं और इनसे मध्यस्तरी मेघ विकसित होते हैं। हास के समय ये सामान्यतः पक्षाभ या कपासी पक्षाभ मेघ बन जाते हैं अथवा अदृश्य हो जाते हैं।

स्तरी मेघ : ये पक्षाभ मेघों के नीचे स्थित होते हैं। ये इतने सफेद नहीं होते जितने पक्षाभ मेघ। इनका रंग धूसर होता है। आमतौर से इन्हें तीन उपवर्गों में बांटा जाता है : मध्यकपासी (एल्टोकुमुलस), मध्यस्तरी (एल्टोस्ट्रेटस) और वर्षास्तरी (निम्बोस्ट्रेटस)।

मध्य-कपासी श्वेत या भूरे धब्बों अथवा तहों वाले मेघ हैं, जिनकी तहें इतनी मोटी होती हैं कि वे सूर्य की किरणों को साधारणतः रोक देती हैं। ये गोलाकार मेघ-राशियों से मिलकर बने होते हैं जो आंशिक रूप से रेशेदार हो सकती हैं। इन मेघों के गोले उतने नियमित नहीं दिखाई देते जितने पक्षाभकपासी के।

ये मेघ मुख्यतः जलकणों से बने होते हैं। ये कपासी या स्तरी कपासी मेघ में परिवर्तित हो सकते हैं। हास होने पर ये साधारणतः समाप्त हो जाते हैं।

धूसर या नीले रंग की चादर सदृश्य मेघ होते हैं जिनका स्वरूप साधारणतः रेशेदार होता है। ये आकाश में सैकड़ों किमी. के क्षेत्र में, बिना रोक-टोक के, फैल जाते हैं। इनका ऊर्ध्वाधर विस्तार कुछ सौ मीटर तक हो सकता है। जिस स्थान पर तहें अपेक्षाकृत पतली होती हैं वहां ये मेघ अल्पपारदर्शी हो जाते हैं।

ये बादल साधारणतः मूसलाधार वर्षा करने की क्षमता भी रखते हैं। बरसते समय इनका रंग गहरा भूरा हो जाता है तथा ये घने हो जाते हैं। घनत्व के कारण इस अवस्था में मेघ-तहें और नीचे आकर, सूर्य की किरणों को पूर्णतः रोक देती हैं। इस अवस्था में ये मेघ वर्षास्तरी मेघ में बदल जाते हैं।

मध्यस्तरी मेघ साधारणतः जलकणों तथा आंशिक तौर पर हिमकणों से बने होते हैं। इनका विकास घने मध्य स्तरी या स्तरी मेघों में हो जाता है। कहीं-कहीं ये कपासी - स्तरी मेघ में भी बदल जाते हैं। हास के समय ये विरल होते जाते हैं और अन्त में समाप्त हो जाते हैं।

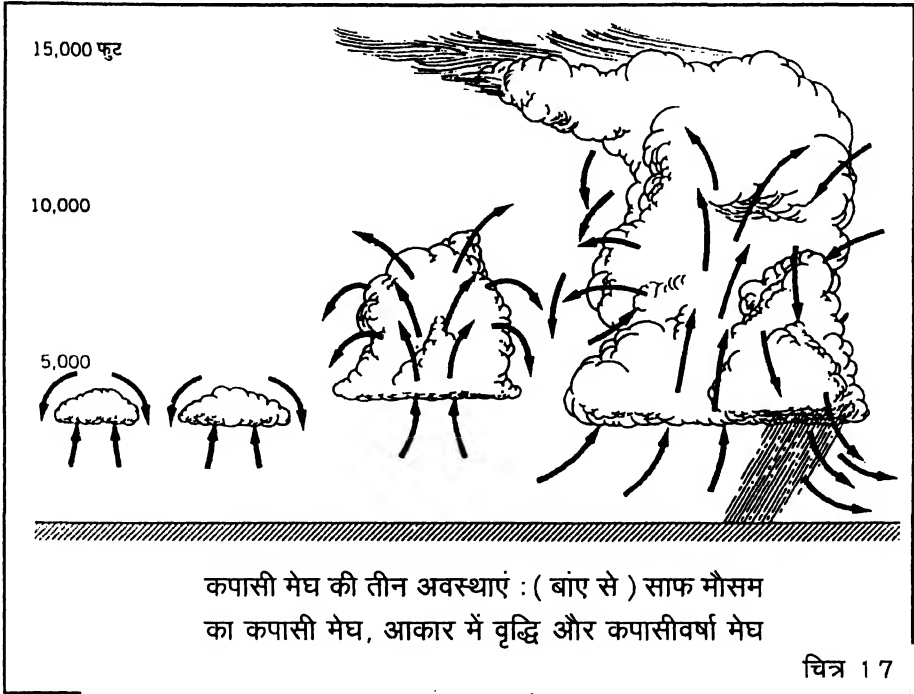
कपासी मेघ : कपासी मेघ फूलगोभी के समान दिखायी देते हैं जिनका विकास ऊपर की ओर, ऊर्ध्वाधर रूप से, होता है। उनका शीर्ष आमतौर से गुम्बद के आकार का होता है जबकि उनका निचला भाग सपाट होता है। अधिकतर ये आकाश में शाम के समय झुंडों में विचरण करते हैं। ऊंचे पर्वतों पर ऊंचे महलों जैसी आकृति में छाए कपासी मेघ बहुत भव्य लगते हैं।

कपासी मेघों के तीन उपवर्ग हैं : स्तरीकपासी (स्ट्रेटोकुमुलस), कपासी (कुमुलस) और कपासीवर्षी (कुमुलोनिस)।

स्तरीकपासी मेघ सफेद या भूरी चादर अथवा तहों वाले, सामान्य रूप से अविच्छिन्न, मेघ होते हैं। इनकी तहों की मोटाई 100 से 1000 मीटर तक होती है। अधिक भूरे भाग साधारणतः गोलाकार मेघ राशियों अथवा बेलनाकार मेघ राशियों से बने होते हैं, जो कहीं नियमित और कहीं अनियमित आकृतियां धारण किए रहती हैं। ये मेघ जलकणों से बने होते हैं। इनमें अक्सर बड़ी बूंदें पर्याप्त संख्या में विद्यमान होती हैं। इनकी वृद्धि साधारणतः विशाल कपासी मेघों में तथा हास छोटे कपासी मेघों में हो जाता है।

कपासीस्तरी मेघ आकाश में एक क्षैतिज चादर की तरह फैले होते हैं। साधारणतः ये मेघ भूमि तल से कुछ ही ऊंचाई (लगभग 600 मीटर) पर तेज गति से चलते हुए दिखते हैं। ऊंचे स्थानों

पर ये कुहरे का आभास देते हैं। इनका ऊर्ध्वाधर विस्तार 50 से 300 मीटर तक हो सकता है। इसकी तहें इतनी पतली होती हैं कि सूर्य किरणों को रोक नहीं पातीं। परिस्थिति के अनुसार स्तरी मेघ कपासी या मध्यस्तरी मेघों में रूपान्तरित हो जाते हैं।



कपासी मेघ स्पष्ट रूपरेखा वाले, गहरे, ऊर्ध्वाधर विस्तार वाले, मेघ होते हैं जो क्षैतिज रूप से अपेक्षाकृत बहुत कम जगह घेरते हैं। इनका ऊपरी भाग गुम्बद या मीनार की आकृति जैसा दिखाई देता है; कभी-कभी ऊपरी भाग क्षैतिज दिशाओं में प्रसारित होकर गोभी के फूल जैसा आकार ग्रहण कर लेता है। सौर किरणों के परावर्तन के कारण इनका ऊपरी भाग चमकीला दिखाई देता है, जबकि आधार काफी गहरे रंग का। आधार की ऊंचाई 300 से 1600 मीटर तक हो सकती है। शीर्ष साधारणतः 6-7 किमी. की ऊंचाई तक पहुंच जाता है।

कभी-कभी ये मेघ कई छोटे टुकड़ों में खण्डित हो जाते हैं या छोटे आकार में ही विकसित हो पाते हैं। इन्हें 'स्वच्छ मौसम कपासी' मेघ कहा जा सकता है। कपासी मेघ साधारणतः जलकणों और जल की बड़ी बूंदों से मिलकर बने होते हैं। इसकी वृद्धि कपासीवर्षा अथवा स्तरीकपासी में तथा हास मध्यकपासी में होता है।

कपासीवर्षा मेघ अत्यधिक घने और ऊर्ध्वाधर विस्तार के मेघ होते हैं, जो कभी-कभी क्षोभसीमा तक पहुंच जाते हैं। इसका आकार पहाड़ों की तरह विशाल होता है। मध्य अक्षांशों में ये मेघ 10 किमी. तक तथा उष्णकटिबंधों में 14-15 किमी. ऊंचाई तक पहुंच जाते हैं। कभी-कभी विस्तार इससे भी अधिक हो जाता है। इनका ऊपरी भाग साधारणतः चमकीला और रेशेदार होता है। जेट

प्रवाह में इनका शीर्ष क्षैतिज 5 से 15 किमी व्यास में सीमित होता है तथा आधार की ऊंचाई आमतौर पर 200 से 1500 मीटर तक होती है। इन मेघों का निचला भाग मुख्यतः जलकणों से बना होता है किन्तु इनके ऊपरी भाग में बड़ी बूंदें तथा बड़े ओलों के टुकड़े पाए जाते हैं। हिमपात तथा टोरनेडो इन्हीं मेघों से संबंधित होते हैं। इनकी वृद्धि बृहत् कपासीवर्षी तथा हासकपासी मेघ में होता है।

वह नमीयुक्त वायु जो बादल बनाती है निम्न परिस्थितियों में ऊपर उठती है।

- (i) यदि उसे मार्ग में पर्वत मिल जाता है तब उसे पार करने के लिए उसे ऊपर उठना पड़ता है।
- (ii) अगर उसके नीचे ठंडी वायु आ जाती है तब नमीयुक्त वायु को ऊपर की ओर उठना पड़ता है।

यद्यपि ये परिस्थितियां अलग-अलग भी अपना प्रभाव दिखाती रहती हैं परन्तु कई बार ये एक साथ कार्य करती हैं।

जब जल वाष्प से भरी हवा किसी पर्वत को पार करने की कोशिश करती है तब उसे ऊंचा उठना ही पड़ता है। इस दौरान वह फैलती है, ठंडी होती है और उसकी वाष्प, धूलकणों आदि पर द्रवीभूत होने लगती है। इससे बादलों का निर्माण होता है और अंततः पर्वत के पवनाभिमुख हिस्से पर भारी वर्षा हो जाती है। जब यही हवा पर्वत के दूसरी ओर पहुंचती है तब उसमें जल वाष्प मौजूद नहीं होती। इसलिए पर्वत का प्रतिपवन (लिवर्ड) भाग सूखा ही रह जाता है।

वर्षा कैसे होती है

बादलों में पानी अत्यन्त सूक्ष्म बुंदकियों के रूप में मौजूद होता है। ये बुंदकियां हवा के साथ तिरती रहती हैं। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल के फलस्वरूप ये नीचे आने की कोशिश करती हैं तो वायु का प्रतिरोध इन्हें ऊपर ही थामे रखता है। वे इतनी सूक्ष्म होती हैं कि आपस में टकराने पर भी एक-दूसरे से जुड़ती नहीं वरन् टकरा कर वापस आ जाती हैं। ऐसा उस समय तक होता रहता है जब तक किसी प्रकार कोई बड़ी बूंद अथवा हिमलव (स्नोफ्लेक) नहीं बन जाता। इसीलिए मौसमवैज्ञानिकों के लिए काफी समय तक बूंद बनने की प्रक्रिया पहेली ही बनी रही। यद्यपि इस विषय पर कि बादलों में बड़ी बूंदें अथवा हिमलव कैसे बनते हैं काफी समय तक कोई निश्चित सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया जा सका, पर वैज्ञानिकों ने अनेक सुझाव अवश्य पेश किए। इनमें एक सुझाव यह भी था कि इस प्रक्रम में वायुमंडलीय तड़ित का भी योग होता है।

आज अधिकांश मौसमवैज्ञानिक यह मानते हैं कि उष्ण और समशीतोष्ण कटिबंधों में वर्षा होने की प्रक्रियाएं अलग-अलग हैं, परन्तु उनमें बादलों के ताप और उनमें मौजूद नाभिकों के अनुसार, निम्न दो में से कोई एक क्रिया अवश्य होती है।

उष्ण कटिबंध में वर्षा : गर्म प्रदेशों में होने वाली मूसलाधार वर्षा उन बादलों से होती है जिनका ताप हिमांक से ऊपर होता है। उनमें सूक्ष्म बुंदकियां किसी नाभिक के इर्द-गिर्द, आपस में संलयित होती हैं। इन बुंदकियों का औसत आकार 0.02 मिमी जैसा सूक्ष्म होता है।

गर्म प्रदेशों में संवहन धाराएं विशेष रूप से प्रबल होती हैं। इससे बादलों में मौजूद जल बुंदकियां तेजी से ऊपर की ओर उठती हैं। साथ ही वे शीर्ष से नीचे की ओर भी जाती रहती हैं। इसलिए बुंदकियों के आपस में टकराने के अवसर काफी अधिक हो जाते हैं। इस स्थिति में नमक के कण, जो सागर के ऊपर के वायुमंडल में काफी मात्रा में सदैव मौजूद रहते हैं, नाभिक का कार्य करते हैं। इन कणों

पर बुंदकियां जमने लगती हैं। हजारों—लाखों बुंदकियों के एक ही नाभिक पर जम जाने के परिणामस्वरूप बनने वाली बुंद का आकार काफी बड़ा हो जाता है। छोटी बुंदकियों की तुलना में वह अधिक तीव्र गति से नीचे गिरने लगती हैं। नीचे गिरने के दौरान वह ऊपर उठती हुई सूक्ष्म बुंदकियों से टकराती है और उन्हें आत्मसात कर लेती है। इससे अंततः वह इतनी बड़ी हो जाती है कि बादलों से नीचे की ओर वर्षा की बुंद के रूप में गिर सके।

समशीतोष्ण प्रदेश में वर्षा : समशीतोष्ण क्षेत्रों में जहां बादलों का ताप हिमांक से नीचे होता है, वर्षा का प्रक्रम इससे भिन्न होता है। इस बारे में 1930 के दशक में स्वीडन के मौसमवैज्ञानिक टॉर हैराल्ड परसीवल बर्जेरॉन ने अनेक सुझाव पेश किए थे। उनका मुख्य सुझाव था “समशीतोष्ण कटिबंध में वर्षा होने की आवश्यक शर्त है बादलों में हिम के क्रिस्टलों की उपस्थिति।” वर्ष 1935 में प्रकाशित अपने एक शोधपत्र में उन्होंने सुझाया था कि अधिकांश वर्षा हिम के रूप में आरंभ होती है। उनकी परिकल्पना को जर्मन भौतिकशास्त्री वाल्टर फिन्डाईसेन (Findeisen) ने बहुत समर्थन दिया और उसे एक सिद्धांत के रूप में पेश किया। यह बर्जेरॉन-फिन्डाईसेन सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि हिम के ऊपर संतृप्त वाष्प—दाब पानी के ऊपर के दाब की अपेक्षा कम होता है। बड़े बादलों में अतिशीतित जल की बुंदकियां मौजूद होती हैं (अतिशीतित जल 0° से. पर न जम कर -4.0° से. जैसे निम्न ताप पर जमता है)। इसलिए उसमें संतृप्त वाष्प मौजूद होती है। इस प्रकार के मेघ में हिम के क्रिस्टल प्रविष्ट करा देने से उसमें हिम के सन्दर्भ में वाष्प अतिसंतृप्त हो जाती है। इसलिए उसके आसपास के वातावरण का पानी हिम पर जमने लगता है।

पानी के हिम में परिवर्तित होने से गुप्त ऊष्मा मुक्त होती है। इससे आपेक्षिक आर्द्रता घट जाती है और आसपास के अतिशीतित जल की बुंदों का वाष्पन होने लगता है। इस प्रकार अतिशीतित जलबुंदों के वाष्पन से हिम के क्रिस्टल उस समय तक बढ़ते रहते हैं जब तक बादल पूरी तरह से हिम कणों में नहीं बदल जाते। बादलों के अंदर ये कण आपस में एक-दूसरे से उस समय तक जुड़ते रहते हैं जब तक इतने बड़े नहीं हो जाते कि ऊपर उठते हुए वायु प्रवाहों के विरुद्ध, पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल के प्रभावस्वरूप, नीचे न गिरने लगे। अध्ययनों में पाया गया है कि इतने बड़े हिम कणों के बनने में लगभग 10 मिनट लगते हैं।

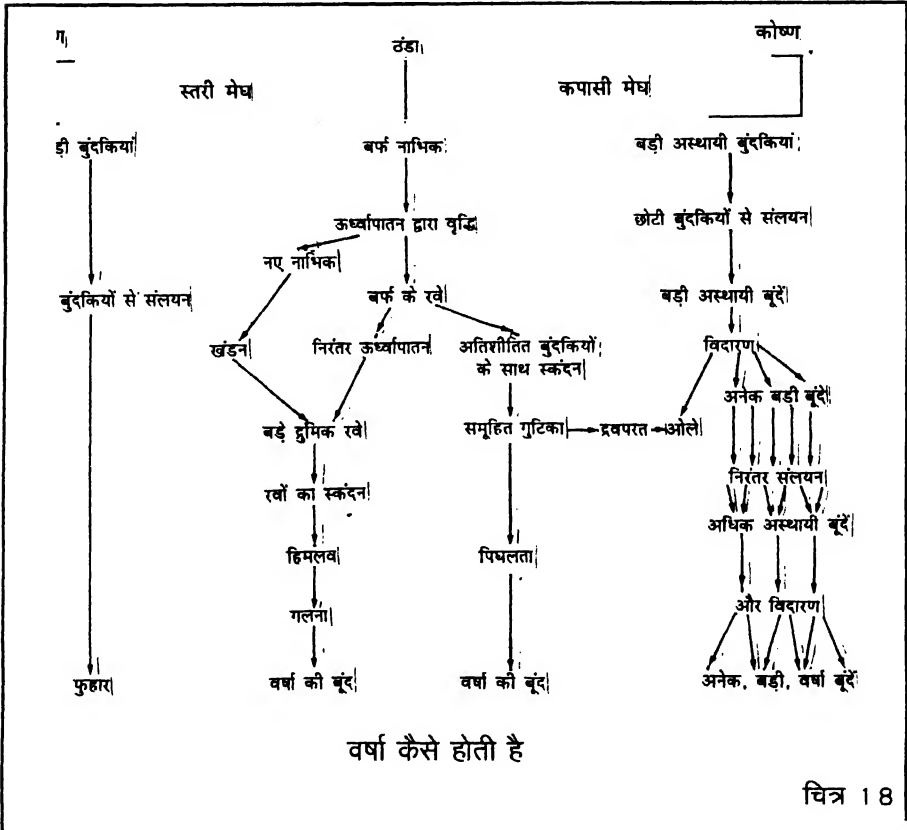
नीचे आते समय ये हिम कण उस स्थल पर पानी में बदल जाते हैं जहां वायुमंडल का ताप 0° से. से अधिक होता है। इस प्रकार इस सिद्धांत के अनुसार वर्षा की बुंदों के धरती तक पहुंचने की एक ही शर्त होती है कि धरती का ताप हिमांक से ऊपर हो।

काफी तर्कसंगत प्रतीत होते हुए भी बर्जेरॉन-फिन्डाईसेन सिद्धांत में एक भारी कमी पायी गई। यह सिद्धांत इस तथ्य को नहीं समझा पाता कि वर्षा उन कोष्ण बादलों से भी, जिनमें हिम कण मौजूद नहीं होते, क्यों हो जाती है।

वैज्ञानिकों का यह भी मत है कि यदि बादलों में हिम कणों के स्थान पर किसी अपद्रव्य (नमक आदि) के कण मौजूद होते हैं तब भी उनके आसपास की तिरती हुई बुंदकियां उन पर जमने लगती हैं।

संयोजन सिद्धांत के बारे में विशेष रूप से गर्म प्रदेशों में होने वाली वर्षा के बारे में नोबेल पुरस्कार

विजेता अमेरिकी वैज्ञानिक इरविंग लैंगम्यूर ने भी अध्ययन किए थे। उन्होंने लोगों का ध्यान बादलों में मौजूद विभिन्न कणों की उपस्थिति में पानी की बुंदकियों के आकारों की ओर आकर्षित किया और यह सुझाव पेश किया कि पानी की बड़ी बूंदें धीमी गति से विचरण करने वाली छोटी बुंदकियों से टकराकर उन्हें अपने में समावेशित कर लेती हैं। इस क्रिया में बड़ी बुंदकियों का आकार और वेग बढ़ता जाता है। इस प्रक्रम में बुंदकियों की संहति उस समय तक बढ़ती जाती है, जब तक वे भारी होकर नीचे नहीं गिर जातीं। बड़ी बुंदकियों का अंतिम वेग छोटी बुंदकियों से अधिक होता है।



इस बारे में यह उल्लेखनीय है कि बादल जितने घने होते हैं पानी की बूंदें उतनी ही बड़ी बनती हैं और वे उतनी ही तेजी से नीचे गिरती हैं परंतु बूंदों का आकार 5 मिमी. से अधिक बढ़ जाने पर वे टूटने लगती हैं।

अध्ययनों में पाया गया है कि उन बुंदकियों का, जिनका आकार 0.05 से 0.5 मिमी. तक होता है अंतिम वेग 0.7 से 2.0 मीटर प्रति सैकंड तक पहुंच जाता है और वे उतनी भारी हो जाती हैं जितनी नीचे गिरने के लिए जरूरी होता है।

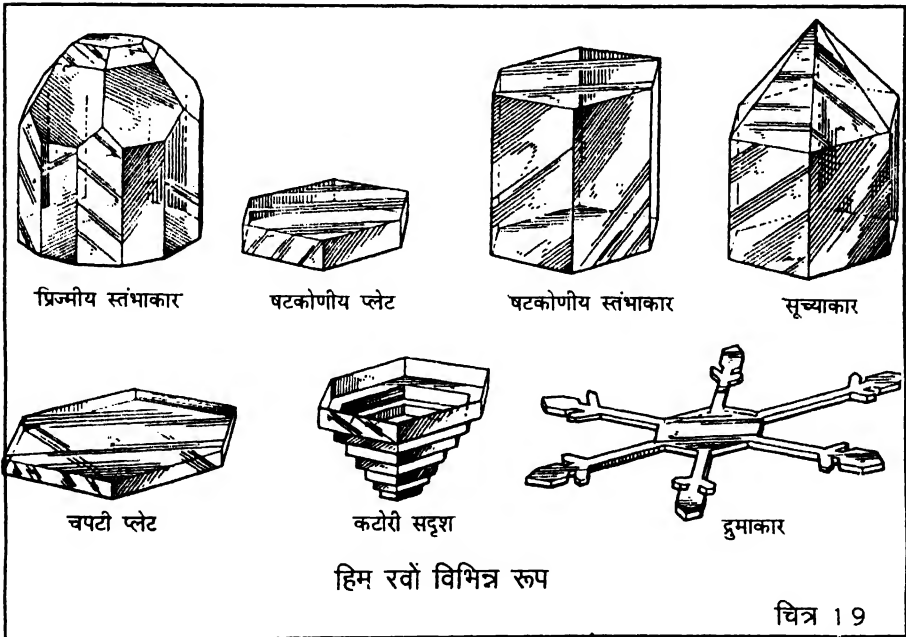
पानी बरसने की तीव्रता के अनुसार वर्षा को आमतौर से हल्की, मध्यम और भारी वर्गों में बांटा

जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार यदि पानी 0.5 मिमी. प्रति घंटे तक की दर से बरसता है तब वर्षा "हल्की" कहलाती है, जब पानी बरसने की दर 0.5 से 4 मिमी. प्रति घंटे होती है तब वर्षा "मध्यम" और जब यह दर 4 मिमी. प्रति घंटे से बढ़ जाती है तब वर्षा "भारी" कहलाती है।

ओले

ओले बर्फ के प्रायः गोलाकार टुकड़े होते हैं जिनका आकार 5 मिमी. से अधिक होता है। "मृदु ओलों" के नाम से प्रसिद्ध ओले वास्तव में हिम के सूक्ष्म कण होते हैं। इसी प्रकार छोटे ओलों में मृदु ओलों के ऊपर स्वच्छ बर्फ की परतें चढ़ी होती हैं।

ओले उन कपासीवर्षी मेघों से बनते हैं जिनमें ऊपर उठने वाली वायु की धाराएं इतनी प्रबल होती हैं कि वे बर्फ के बढ़ते हुए गोलों के वजन को संभाल सकें। ओलों के निर्माण के लिए इस प्रकार के बादलों का बहुत क्रियाशील होना तथा उनमें पानी की काफी मात्रा का मौजूद होना बहुत जरूरी होता है। इन बादलों के बनने के लिए अनुकूल परिस्थितियों में अपेक्षाकृत कोष्ण मौसम और पवन की ऊपर उठती हुई प्रबल धाराएं जरूरी होती हैं। परंतु इन दोनों के लिए भूमि की सतह का गर्म होना भी जरूरी होता है। इस प्रकार के ओले बरसाने वाले बादल तड़ित् झंझा के ऊपरी भाग में स्थित होते हैं। वैसे ओले सदैव छोटे क्षेत्र में ही गिरते हैं।



ओलों का निर्माण जमी हुई जल बूंदों अथवा हिम के सूक्ष्म कणों के रूप में आरंभ होता है जो हवा की तीव्र धाराओं के साथ ऊपर-नीचे आते जाते हैं। अपनी इन गतियों के दौरान वे बादलों में उपस्थित उन सूक्ष्म जल बुंदकियों को, जो उनसे टकराती रहती हैं, अपने ऊपर जमाते रहते हैं। ऐसा

उस समय तक होता रहता है जब तक वे इतने भारी नहीं हो जाते कि हवा की धाराएं उनके वजन को न संभाल पाएं। ऐसा होते ही वे धरती की ओर गिरने लगते हैं।

ओलों पर जमी बर्फ की परतों से उनकी निर्माण विधि का अनुमान लगाया जा सकता है। बहुत निम्न ताप पर बने ओलों में जल की बुंदकियां तेजी से जमती हैं। ऐसा होते समय उनमें वायु के छोटे-छोटे बुलबुले फंस जाते हैं। इनकी वजह से ओले सफेद दिखायी देते हैं। अपेक्षाकृत ऊंचे तापों पर निर्मित ओलों में पानी के जमने की गति धीमी होती है। इसलिए उनमें हवा के बुलबुले नहीं फंस पाते और ओलों की बर्फ स्वच्छ होती है। बड़े ओलों की संरचना प्याज की भांति होती है। वे लगभग गोलाकार होते हैं और उनमें बर्फ की सफेद और पारदर्शी परतें एकांतर रूप में मौजूद होती हैं। ये परतें यह दर्शाती हैं कि ओलों के रूप में विकसित होने वाले हिमकणों ने ऊपर-नीचे की कई बार यात्रा की है और वे भिन्न-भिन्न ताप स्तरों में से गुजरे हैं। वैसे एक बड़े ओले के निर्माण के लिए एक कण को लगभग 10 मिनट तक निलम्बित रहना पड़ता है और इसके लिए वायु की ऊपर उठने वाली ऐसी प्रबल धाराओं का होना भी जरूरी होता है जिनकी गति लगभग 30 मीटर प्रति सैकंड से अधिक हो।

हिम उल्काएं : यद्यपि समय-समय पर आकाश से बर्फ के बड़े-बड़े टुकड़े गिरते रहते हैं पर मौसमवैज्ञानिक उन्हें ओले नहीं मानते। उनके अनुसार ओले सदैव बौछारों में गिरते हैं अकेले नहीं, जबकि ये टुकड़े अकेले ही गिरते हैं। इतिहास साक्षी है कि जून 1829 में कोरडोबा, स्पेन, में 2 किग्रा. वजन की "बर्फ" "उल्का" गिरी थी। इसी प्रकार जून 1971 में फ्रांस में 900 ग्राम वजन का बर्फ का टुकड़ा गिरा था और जनवरी 1972 में सरे, इंग्लैंड, में तो ठोस बर्फ की लगभग एक घन मीटर बड़ी सिल्ली ही ऊपर से बरस पड़ी थी।

ये बर्फ उल्काएं कैसे बनती हैं और क्यों बरसती हैं यह अब भी काफी हद तक कल्पना का विषय है। वैज्ञानिक इस बारे में स्वयं चकित हैं। वैसे कुछ लोगों का अनुमान है कि वास्तव में ये "बहुत बड़े" (सुपर) ओले ही होते हैं।

बिजली (तड़ित)

तड़ित झंझा का एक आवश्यक अंग है आकाशीय बिजली (तड़ित)। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक तड़ित झंझा के दौरान ही अमेरिकी कूटनीतिज्ञ और वैज्ञानिक, बेंजामिन फ्रैंकलिन ने पतंग उड़ाकर यह सिद्ध कर दिखाया था कि तड़ित भी बिजली का ही एक रूप है यद्यपि वह अत्यंत शक्तिशाली रूप है। उसमें सैकंड के एक छोटे से अंश के दौरान 10,000 एम्पीयर की धारा प्रवाहित हो जाती है। उससे वायु का ताप $30,000^{\circ}$ जैसा अत्यंत उच्च हो जाता है और वह चमकने लगती है।

यद्यपि वैज्ञानिक अब भी बादलों में विद्युत आवेश उत्पन्न होने की प्रक्रिया को पूर्ण रूप से समझ नहीं पाए हैं परंतु उनका मत है कि यह प्रक्रिया वर्षा, ओलों, और बादलों में ऊपर उठते हुए शक्तिशाली वायु प्रवाहों से संबंधित होती है। कभी-कभी ये आवेश उच्च-स्तरीय बादलों में भी उत्पन्न हो जाते हैं।

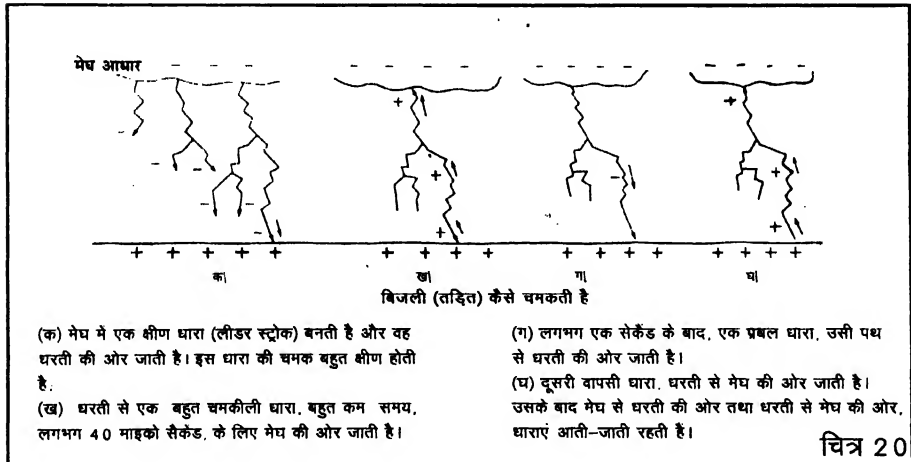
अपने भीतर के भीषण विक्षोभों के फलस्वरूप एक विशाल वर्षा मेघ बड़े विद्युत जेनरेटर की भांति व्यवहार करने लगता है। उस बादल के भिन्न-भिन्न भागों में धनात्मक और ऋणात्मक आवेश सांद्रित

होकर बहुत बड़ी मात्रा में विभांतर पैदा कर देते हैं। जब यह विभांतर लगभग पांच लाख वोल्ट प्रति मीटर के क्रांतिक स्तर पर पहुंच जाता है तब ये आवेश एक अत्यंत तीव्र चमक के रूप में विसर्जित हो जाते हैं।

बादलों में विद्युत आवेशों के वितरण की जानकारी हासिल करने हेतु उनमें भेजे गए आधुनिक यंत्रों से लैस गुब्बारों से पता चला है कि गरजने वाले मेघों के ऊपरी भाग में धन आवेश मौजूद होते हैं और निचले भाग में ऋण आवेश। ऊपरी भाग का ताप -20° से. से कम और निचले भाग का ताप हिमांक के निकट होता है। वैसे बादलों के आधार के निकट और मध्य भाग भी धन आवेश से युक्त क्षेत्र होते हैं। इनमें धन आवेश की सांद्रता का संबंध भारी वर्षा के साथ होता है।

बादलों में उक्त तरीके से आवेशों के वितरण के अनेक कारण सुझाए गए हैं। इनमें से एक सर्वमान्य सुझाव के अनुसार बादलों के ऊपरी भाग में मृदु ओलों के निर्माण के फलस्वरूप और सदैव मौजूद रहने वाले 120 वोल्ट प्रति मीटर के "सुखद मौसम" के फलस्वरूप आरंभ में बादलों की ऊपरी सतह ऋण आवेशित हो जाती है और निचली सतह धन आवेशित। जब हिम कण पैलेट ऊपरी सतह से नीचे की ओर आती हैं तथा वर्षा की बुदकियां और हिमकण, शक्तिशाली वायु प्रवाहों के साथ ऊपर की ओर जाते हैं। ऐसा करते समय वे आपस में टकराते रहते हैं।

ऊपर उठती हुई ये जल बुदकियां पैलेटों से टकराने के बाद उछलने लगती हैं और इस क्रिया में वे पैलेटों से उनका धन आवेश भी सूक्ष्म मात्रा में ग्रहण कर लेती हैं और उसे अपने साथ बादलों के ऊपरी भागों में ले जाती हैं।



बादल के विभिन्न भागों में आवेशों के निर्माण के साथ-साथ बादल के नीचे, भूमि पर, स्थित वस्तुओं में भी उतनी ही शक्ति के परंतु विपरीत प्रकृति के आवेश बनते जाते हैं। ये आवेश उस समय तक इस स्थिति में रहे आते हैं जब तक उनके विसर्जन के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न नहीं हो जातीं। जब वायु निर्मल और सूखी होती है तब विसर्जन से पहले लगभग 30 लाख वोल्ट प्रति मीटर का विद्युत क्षेत्र बनना जरूरी होता है। पर वायु में नमी हमेशा उपस्थित होती है और जब आकाश में बादल छाए होते हैं तब नमी की मात्रा काफी अधिक हो जाती है। इसलिए बादलों में मौजूद आवेशों

के विसर्जन के लिए केवल 5 लाख वोल्ट प्रति मीटर का विद्युत क्षेत्र ही पर्याप्त हो जाता है। एक प्रौढ़ वर्षा मेघ में यह स्थिति शीघ्र ही आ जाती है और परिणाम होता है बिजली (तड़ित्) का विसर्जन। इस विसर्जन के फलस्वरूप ही हमें तड़ित् की चमक दिखाई देती है। यद्यपि हमें आमतौर से तड़ित् की एक ही चमक दिखाई देती है पर बहुत तीव्र गति के कैमरे से इस घटना के चित्र लेने से पता चला है कि यह वास्तव में यह एक घटना न हो कर कई घटनाओं का एक क्रम होता है और यह क्रम काफी जटिल होता है।

इसमें सबसे पहले बादलों से एक क्षीण धारा, "लीडर स्ट्रोक", निकल कर लगभग 100 किमी. प्रति सैकंड की गति से चलती है। यह धारा उस मार्ग से जाती है जिसमें उसे न्यूनतम प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। धरती की ओर जाते समय यह धारा अपने पीछे आयनित वायु की एक लीक छोड़ जाती है। बाद में मुख्य धारा इसी लीक से प्रवाहित होकर नीचे की ओर आती है। नीचे आने के दौरान मुख्य धारा की अनेक शाखाएं समाप्त हो जाती हैं पर मुख्य, सबसे प्रबल, धारा भूमि के निकट तक पहुंच जाती है। यहां उसे भूमि की, निकटतम, उन सबसे ऊंची और नुकीली वस्तुओं/भवनों आदि से, जिन पर बादलों के आवेशों के प्रेरण के फलस्वरूप आवेश उत्पन्न हो गए थे, आने वाली विद्युत धारा मिल जाती है। इस प्रकार तड़ित् के लिए बादल से धरती तक पूर्ण रूप से चालक पथ बन जाता है। भूमि से विद्युत की एक अत्यंत प्रबल धारा बहुत तीव्र गति से, प्रकाश की गति के दसवें भाग के बराबर गति से (लगभग 30,000 किमी. प्रति सैकंड की गति से) ऊपर की ओर जाती है। इन सब घटनाओं के दौरान केवल कुछ मिमी. मोटी वायु की परत में से 10,000 एम्पीयर जैसी शक्ति की धारा प्रवाहित होती है। इससे वायु अत्यधिक गर्म हो जाती है। उसका ताप $30,000^{\circ}$ सें. जैसा ऊंचा हो जाता है और वह चमकने लगती है। यह चमक ही तड़ित् की चमक होती है। इसी को हम बोलचाल की भाषा में 'बिजली का चमकना' कहते हैं।

साथ ही गर्म वायु बहुत तेजी से चारों ओर फैलती है और आसपास की ठंडी वायु से टकराती है। इससे गड़गड़ाहट की आवाज उत्पन्न होती है। इस गड़गड़ाहट को ही "बादलों का गरजना" कहते हैं। वायु के चमकने और फैलने की क्रियाएं एक साथ होती हैं परंतु ध्वनि की गति के प्रकाश की गति की तुलना में बहुत कम होने के कारण हमें गड़गड़ाहट, चमक दिखने के काफी बाद, सुनाई देती है।

धरती से बादलों की ओर जाने वाले मुख्य धन आवेश के बाद उसी मार्ग से एक ऋण आवेश बादलों से धरती की ओर आता है। इसके लगभग $1/20$ सैकंड बाद आवेश फिर से पैदा हो जाते हैं तथा वे उसी आयनित मार्ग से ऊपर-नीचे आते-जाते हैं। इस प्रकार आमतौर से तीन या चार बार आवेश आते-जाते हैं। कभी-कभी सैकंड के चौथाई भाग में ही इससे कहीं अधिक बार आवेश आते और चले जाते हैं।

हिमपात

हिमपात सबसे अधिक हिमलवों (स्नोफ्लेक) के रूप में होता है। हिमलव हिम के बहुत छोटे-छोटे रवों के एक साथ जमने से बनी मिश्र संरचना होती हैं। इन रवों की आकृतियां तारों के सदृश्य आकृति से लेकर प्लेट जैसी आकृति तक, कुछ भी हो सकती है। परंतु जिस प्रकार दो मनुष्यों की अंगुलियों

की छाप एकदम समान नहीं होती उसी प्रकार किन्हीं भी दो हिमलवों की संरचना एकदम समान नहीं होती।

विलसन बेंटले (1865-1931) को हिमलवों में बहुत रुचि थी और उन्होंने इनका जीवन पर्यंत अध्ययन किया। उन्होंने लगभग 5000 हिमलवों को माइक्रोस्कोप के नीचे आवर्धित करके, उनके फोटो लिए थे और 2500 से भी अधिक भिन्न भिन्न संरचनाओं वाले हिमलवों के चित्र प्रकाशित किए थे।

शांत अथवा बहुत हल्की बयार में लगभग 0° सै. के ताप पर होने वाले हिमपात में गिरने वाली हिम मुलायम और आकृति में पंखनुमा होती है क्योंकि उसमें हवा, छोटे-छोटे बुलबुलों के रूप में फंस जाती है। साथ ही यह हिम बहुत सफेद होती है क्योंकि उस पर पड़ने वाली अधिकांश प्रकाश किरणें परावर्तित हो जाती हैं। वह इमारतों की छतों, पेड़ की शाखाओं, आदि पर चिपक कर इकट्ठी होती जाती है। इसके विपरीत अत्यंत निम्न तापों पर गिरने वाली हिम सूखी और चूर्ण रूप में होती है। वह कम चिपकती है। यदि उसे उड़ाया जाता है, तब उसके क्रिस्टल बिखर जाते हैं।

जब तेज पवन बह रही होती है तब खुली धरती पर हिम की पतली तह ही जम पाती है। परंतु जब हवा शांत होती है तब उसकी एक के ऊपर एक अनेक परतें जमती जाती हैं। इस वजह से वह काफी मोटी हो जाती है।

धरती पर गिरते ही हिम के लक्षण बदलने लगते हैं। यदि उस समय वायु का ताप हिमांक से ऊपर होता है अथवा धूप खिली होती है तब हिम की सतह की ऊपरी परत थोड़ी सी पिघल जाती है। परंतु रात के समय ताप के हिमांक के नीचे चले जाने पर पानी फिर से जम जाता है। इस प्रकार हिम के बार-बार पिघलने और इस तरह बने पानी के फिर से जम जाने से वह बहुत कठोर पर भंगुर हो जाती है।



अध्याय पांच

वरुणदूत : मानसून

जून के अंतिम सप्ताह में, भीषण गर्मी से त्रस्त, उत्तर भारत के प्रत्येक आदमी की जबान पर एक ही प्रश्न होता है —

“मानसून कब आ रहा है?”

आकाश की ओर मुंह उठाकर वह मानसून की प्रतीक्षा उसी भांति करता है जैसे मुसीबत में लोग भगवान की सहायता की प्रतीक्षा करते हैं।

निश्चय ही “मानसून” से उसका आशय वर्षा से होता है। यद्यपि अरबी भाषा के शब्द ‘मानसून’ का अर्थ “मौसम” है पर आज इसका अभिप्राय उन पवनों से हो गया है जो मौसम (ऋतु) बदलने के साथ अपने बहने की दिशा भी बदल देती हैं। ये पवन, विशेष रूप से गर्मी की ऋतु में दक्षिण-पश्चिम या दक्षिण से आने वाली मानसून पवन अपने साथ बड़ी मात्रा में जलवाष्प भी लाती हैं जो अनुकूल परिस्थितियां पाकर वर्षा के रूप में बरस जाती हैं। इसीलिए आम आदमी के लिए, विशेष रूप से किसान के लिए, “मानसून” “वर्षा” का पर्याय बन गया है।

यद्यपि प्राचीन भारतीयों ने “मानसून” शब्द नहीं गढ़ा था परन्तु वे यह भलीभांति जानते थे कि देश में अधिकांश वर्षा एक विशेष ऋतु में ही होती है। वर्षा के आगमन के अनुसार ही वे अपने कृषि कार्य आरंभ करते थे। ऋग्वेद में वर्षा के आगमन के समय के बारे में अनेक ऋचाएं हैं।

प्राचीन काल में केरल में मानसून पवनों को “काल वर्षा” कहा जाता था। बाद में मौसम (ऋतुओं) के अनुसार अपनी दिशा बदलने वाली इन पवनों को अरब व्यापारी “मानसून” कहने लगे और यह नाम आज भी प्रचलित है।

ईसा की पहली शताब्दी में, सन् 60 के आसपास, किसी अज्ञात यूनानी नाविक द्वारा रचित “पेरीप्लस ऑफ ईरीथ्रीअन सी” नामक ग्रंथ में मानसून पवनों का वर्णन है। प्राचीन यूनानियों के अनुसार ईरीथ्रीअन सागर, वह जलराशि थी जो लाल सागर से लेकर अरब सागर तक फैली हुई थी।

चौथी शताब्दी में भारत में आने वाले चीनी यात्री, फाहियान ने अपने ग्रंथ “बौद्ध राज्यों के इतिहास” में ठंड की मानसून पवनों का वर्णन किया है। परंतु मानसून मेघों का कदाचित सर्वोत्तम वर्णन कालिदास ने **मेघदूत** में प्रस्तुत किया है। मेघदूत में उन्होंने लिखा है; उज्जैन में मानसून की पहली वर्षा आषाढ़ की प्रथमा को होती है। आषाढ़ की प्रथमा आमतौर से 15 जून के निकट आती है। इसलिए यह कथन आधुनिक मौसमविज्ञान के अनुसार भी सही उतरता है।

मानसून पवनों के दिशा-परिवर्तन के बारे में जानकारी हो जाने के बाद भारत के समुद्री व्यापार

में बहुत वृद्धि हुई। अनेक देशों के व्यापारी भारत की यात्रा पर निकलने से पहले मानसून पवनों के बहने की दिशा की जानकारी प्राप्त कर लेते थे और जब वह अनुकूल होती तब ही अपनी यात्रा आरंभ करते थे। इसी प्रकार यहां से लौटते समय भी वे मानसून पवनों के बहने की दिशा का पूरा लाभ उठाते थे। परंतु उक्त जानकारी से भारत को एक बड़ी हानि भी पहुंची। मानसून पवनों की बहाव-दिशा का लाभ व्यापारियों की भांति उन विदेशियों ने भी उठाया जिनका असली अभिप्राय भारत को पराधीन बनाना था।

नौचालन पर, वर्ष 1554 में, सीदी अली द्वारा लिखित एक पुस्तक में 50 भिन्न-भिन्न स्थलों पर मानसूनों के आगमन की तिथियों का उल्लेख है।

मानसून विश्व के अनेक भागों में उत्पन्न होते हैं यथा दक्षिण पूर्वी एशिया, उत्तर-पश्चिमी आस्ट्रेलिया, पश्चिमी और पूर्वी अफ्रीका, दक्षिण पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्राजील। परन्तु वे दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा उत्तर पश्चिमी आस्ट्रेलिया में ही सबसे प्रबल होती हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया में विशेष रूप से भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका और मलेशिया में होने वाली संपूर्ण वर्षा मानसून पवनों से ही होती है। वैसे इन पवनों के प्रभाव चीन और जापान पर भी स्पष्ट रूप से पड़ते हैं।

उत्पत्ति

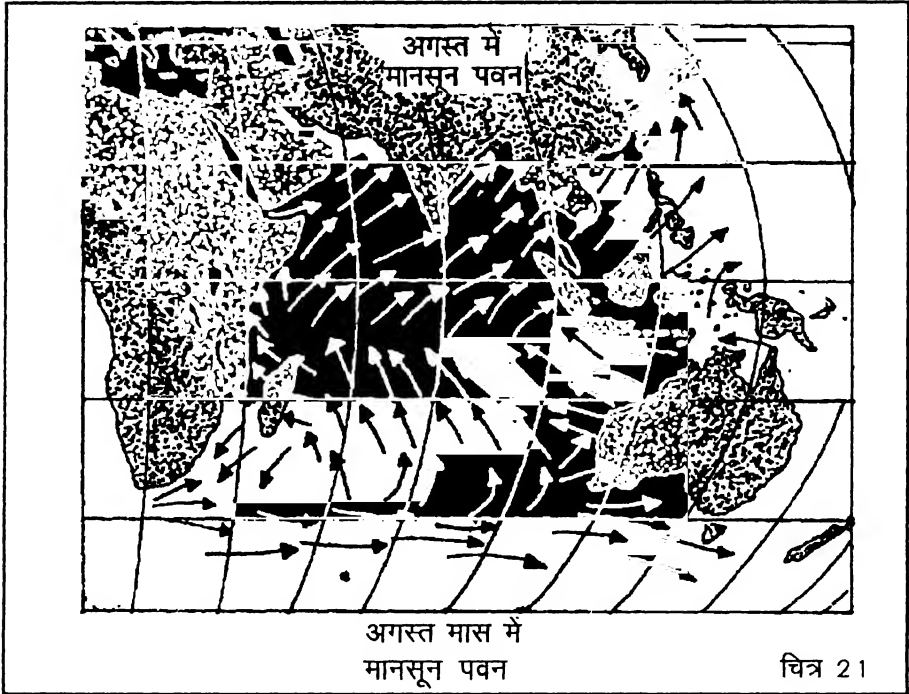
मानसून पवनों की उत्पत्ति के लिए, मोटे तौर पर, वे ही कारक उत्तरदायी हैं जो जल और थल समीर उत्पन्न करते हैं अर्थात् थल और जल (सागर) के गर्म होने के तरीकों में अंतर। परंतु मानसूनों की उत्पत्ति के लिए इन कारकों के पैमानों का अत्यधिक विशाल होना जरूरी है। इनकी उत्पत्ति में महाद्वीप तटीय थल का स्थान ले लेते हैं और महासागर तटीय सागर का।

यद्यपि मानसूनों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण थल और जल के गर्म होने की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं हैं परंतु कुछ अन्य कारक भी मानसूनों की गतिविधियों को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख हैं : पृथ्वी का घूर्णन, पर्वतों का अवरोध, थल पर बहते समय घर्षण के कारण पवनों की गति का मंद हो जाना, आदि। इनके अतिरिक्त उच्च अक्षांशों में मानसून अन्य पवनों के साथ अंतःक्रियाएं भी करता है। इसी प्रकार कम ऊंचाई पर बहने वाले मानसून की उच्च वायुमंडल की पवनों के साथ अंतःक्रियाएं भी होती हैं। वैसे मानसूनों में निहित वाष्प की जल में बदलने की क्रिया के दौरान बहुत बड़ी मात्रा में ऊर्जा भी मुक्त होती है।

दक्षिण-पूर्व एशिया की मानसून पवन : उपर्युक्त परिस्थितियां पृथ्वी के अनेक क्षेत्रों में उत्पन्न हो जाती हैं परंतु वे एशिया और आस्ट्रेलिया में ही सबसे प्रबल होती हैं। अफ्रीका में मानसून काफी विकसित होती हैं परंतु अमेरिकी मानसून बहुत कम विकसित होती है। इसका कारण है एशिया—आस्ट्रेलियाई क्षेत्र में थल और सागर के वितरण का विशिष्ट पैटर्न। इस क्षेत्र में उत्तर में अफ्रीका, यूरोप और एशिया के विशाल भूखंड हैं जबकि दक्षिण में हिंद महासागर है जो अंटार्कटिक महाद्वीप तक निर्विघ्न फैला हुआ है।

ग्रीष्म ऋतु (उत्तरी ग्रीष्म ऋतु) आरंभ होते ही, दोनों गोलार्द्धों में उपोष्ण उच्च दाब क्षेत्र उत्तर की ओर सरकने लगता है। पृथ्वी की धुरी के झुकाव के फलस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध सूर्य के अधिक

निकट आ जाता है। उस समय तापीय भूमध्यरेखा (थर्मल इक्वेटर – अधिकतम सूर्यातप की पट्टी) कर्क रेखा के निकट सरक आती है। परिणामस्वरूप उत्तरी ग्रीष्म ऋतु में एशिया के दक्षिणी भाग, विशेष रूप से अरब सागर के इर्दगिर्द के क्षेत्र, भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र और पाकिस्तान से लेकर सऊदी अरब तक के क्षेत्र बहुत अधिक गर्म हो जाते हैं। इससे वहां वायु का दाब 994 मिलीबार जैसा कम हो जाता है, परंतु हिंद महासागर के दक्षिणी भाग के ऊपर वायुदाब 1025 मिलीबार जैसा उच्च रहा आता है।



गर्मी में वायुमंडल का ताप बढ़ने के साथ-साथ कम दाब वाला क्षेत्र गंगा के कछार से फैलकर, बंगाल की खाड़ी के तट तक पहुंच जाता है। मौसमवैज्ञानिक इस कम दाब वाले क्षेत्र को “मानसून द्रोणी” (मानसून ट्रफ) कहते हैं।

भारत में गर्मी की ऋतु आरंभ होने के पहले भूमध्यरेखा के आसपास के क्षेत्र 5° दक्षिण से 5° उत्तर अक्षांशों के बीच के क्षेत्र में कुछ ऐसी घटनाएं घटती हैं जो मानसूनों की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योग देती हैं। इस क्षेत्र में वायु का दाब काफी कम हो जाता है। मौसमवैज्ञानिक इस कम दाब वाले क्षेत्र को “भूमध्यरेखिक दुहरी द्रोणी” (इक्विटोरियल डबल ट्रफ) कहते हैं। मानसून उत्पन्न होने से पहले 5° उत्तर अक्षांश के उत्तर में स्थित कम दाब वाला क्षेत्र ऊपर (उत्तर) की ओर सरकने लगता है और अंत में मनसून द्रोणी में मिल जाता है।

उसी समय मेडागास्कर द्वीप के निकट हिंद महासागर पर स्थित उच्च दाब वाले क्षेत्र से पवन भारत की ओर बहने लगती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित इस क्षेत्र में जो सर्वप्रथम खोजने वाले पुर्तगाली

अन्वेषक के नाम पर “मैस्कारेनेज उच्च दाब क्षेत्र” (मैस्कारेनेज हाई) कहलाता है, उस समय वहां प्रतिचक्रवात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

गर्मी के मानसून के आगमन के साथ ही भारत के ऊपर, वायुमंडल में दो अन्य महत्वपूर्ण घटनाएं घटती हैं। उत्तर भारत के ऊपर पश्चिम से पूर्व की ओर बहने वाले जेट प्रवाह – उपोष्ण पश्चिमी जेट (सबट्रोपिकल वैस्टरली जेट) एकाएक कमजोर पड़ने लगता है। साथ ही वह उत्तर की ओर सरकने भी लगता है। धीरे-धीरे वह हिमालय के उत्तर में पहुंच जाता है। इस प्रवाह में पवन की अधिकतम गति लगभग 9 किमी. ऊंचाई पर होती है। उसी समय दक्षिण भारत के ऊपर एक जेट प्रवाह पूर्व से पश्चिम की ओर बहना आरंभ हो जाता है।

ऊष्मा द्वीप : गर्मी की मानसून के आगमन से संबंधित एक महत्वपूर्ण घटना तिब्बत के पठार पर भी घटती है। आप जानते हैं कि हिमालय के उत्तर में स्थित तिब्बत का पठार काफी ऊंचाई (सागर तल से औसतन ऊंचाई लगभग 4 किमी.) पर स्थित है। वहां वर्ष भर ठंडा मौसम रहा आता है और वहां वायु दाब लगभग 600 मिलीबार बना रहता है।

आश्चर्यजनक प्रतीत होते हुए भी यह सत्य है कि ठंडा, बर्फीला, तिब्बती पठार मानसून के आगमन से पूर्व इस भांति व्यवहार करने लगता है मानो वह उत्तर-पश्चिम भारत और पाकिस्तान का अत्यंत गर्म क्षेत्र हो। वहां अप्रैल-मई के महिनों में वायुमंडल में लगभग 145 वाट प्रति वर्ग मीटर की दर से – भारत और पाकिस्तान के गर्म क्षेत्रों द्वारा मुक्त की जाने वाली ऊष्मा दर से कुछ ही कम – ऊष्मा ऊर्जा मुक्त होने लगती है।

इस पठार के “ऊष्मा द्वीप” (हीट आइलैंड) की भांति व्यवहार करने के बारे में चीनी मौसमवैज्ञानिकों ने अध्ययन किए हैं। इन अध्ययनों के निष्कर्षों के अनुसार यह ऊर्जा तड़ित झंझाओं द्वारा मुक्त होती है।

यद्यपि तिब्बती पठार ऊष्मा द्वीप की भांति कार्य करता है पर उसके ऊपरी वायुमंडल में, धरती की सतह से लगभग 6 किमी. ऊंचाई पर, जहां वायुदाब 500 मिलीबार के आसपास होता है, प्रबल संवहन चक्र कार्य करने लगते हैं। इन संवहन चक्रों के फलस्वरूप ऊपर उठने वाली वायु तेजी से उत्तर और दक्षिण दिशाओं की ओर फैलने लगती है। इससे 9 से 12 किमी. ऊंचाई वाले क्षेत्र में प्रतिचक्रवातों की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

गतिज ऊर्जा में परिवर्तन : अंतर्राष्ट्रीय हिंद महासागर अभियान के दौरान किए गए अध्ययनों तथा उसके बाद आयोजित विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय अभियानों, विशेष रूप से मोनैक्स (1979) अभियान, के दौरान किए गए प्रयोगों से मानसूनों की उत्पत्ति, प्रसार, समाप्ति आदि के बारे में अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। इन अध्ययनों से यह भी पता चला कि मानसून के आगमन के एकदम पहले अरब सागर के ऊपर स्थित वायु की गतिज ऊर्जा में एकाएक और बहुत शीघ्रता से वृद्धि हो जाती है। इस वृद्धि के साथ कभी-कभी दक्षिण भारत के तट के निकट भ्रमिल बन जाता है। यद्यपि यह भ्रमिल हर वर्ष नहीं बनता परंतु वायु की गतिज ऊर्जा में वृद्धि हर वर्ष होती है।

आगमन

अप्रैल-मई मास में दक्षिण-पूर्व एशिया में कम दाब वाले क्षेत्र के स्थापित हो जाने के फलस्वरूप

मेस्कारेनेज़ उच्च से पवन इस क्षेत्र की ओर बहने लगती है। वास्तव में यह दक्षिण पूर्व की व्यापारी पवन होती हैं जो अंतःउष्णकटिबंधीय अभिसरण क्षेत्र की ओर बहती हैं। उत्तरी गर्मी में इस क्षेत्र के कर्क रेखा के निकट सरक आने से यह भूमध्यरेखा तक ही सीमित न रहकर उसको पार करके कर्क रेखा की ओर बढ़ती चली जाती है। कम दाब वाले क्षेत्र की स्थिति और कोरिआलिस बल इसे पूर्व की मोड़ देते हैं। फलस्वरूप यह अरब सागर को पार करके भारत के दक्षिण-पश्चिम तट पर दक्षिण-पश्चिम मानसून के रूप में आ पहुंचती हैं। यह सागर पर से आती हैं इसलिए अपने साथ बड़ी मात्रा में जल वाष्प भी लाती हैं और अनुकूल परिस्थितियां मिलने पर वर्षा करती हैं।

आमतौर पर गर्मी की मानसून श्रीलंका, अण्डमान द्वीपसमूह और म्यांमार के दक्षिणी भाग में मई के तीसरे सप्ताह में ही पहुंच जाती हैं। उस समय अरब सागर की तुलना में मानसून की प्रगति बंगाल का खाड़ी में अधिक तेजी से होती है। मई के तीसरे सप्ताह तक बंगाल की खाड़ी की मानसून 20° उत्तर अक्षांश तक पहुंच जाती है जबकि अरब सागर की मानसून उस समय तक केरल भी नहीं पहुंच पाती। वैसे केरल में मानसून पहुंचने की तिथि निश्चित नहीं है। लगभग 85 वर्षों तक, सन् 1901 से 1985 तक, किए गए अवलोकनों में यह पाया गया कि केरल के तट पर मानसून का आगमन 11 मई से लेकर 18 जून तक, कभी भी, हो जाता है परंतु अधिकांशतः वह पहली जून के आसपास होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि केरल में एक बार आ जाने के बाद मानसून “वापस लौट” जाती है और कुछ दिन बाद “फिर” आ जाती है।

केरल के उत्तर और उत्तर-पूर्व में भी मानसून की प्रगति हर वर्ष एक ही तरीके से नहीं होती। कभी-कभी केरल में स्थापित हो जाने के बाद वह उत्तर और उत्तर-पूर्व की ओर एक-दो चरणों में बढ़ जाती है पर किसी वर्ष एक बार बढ़ जाने के बाद वह क्षीण पड़ जाती है। कुछ दिनों तक उसकी कोई प्रगति नहीं होती। फिर नई लहर आने पर ही वह आगे बढ़ती है।

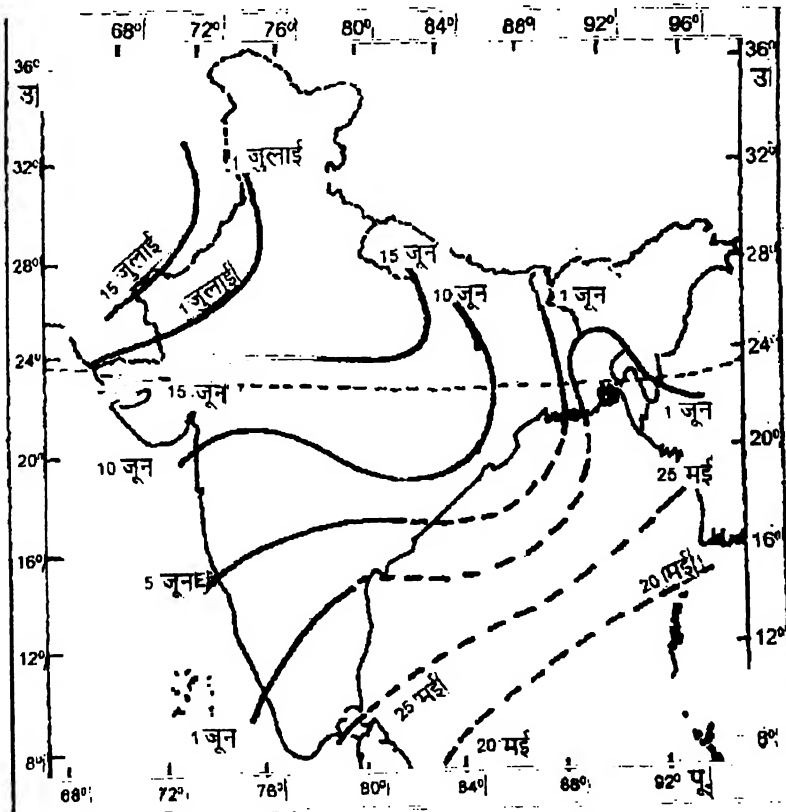
आमतौर पर मानसून 10 जून तक मुंबई आ पहुंचती है। जून के मध्य तक सौराष्ट्र-कच्छ का इलाका पार करता तथा अपनी जल वाष्प के भंडार को अक्षुण्ण रखते हुए वह राजस्थान को पार करती हुई, जुलाई के प्रथम सप्ताह तक उत्तर-पश्चिम भारत पर जा पहुंचती है। फिर भी उसका उत्तर की ओर बढ़ना जारी रहता है और जुलाई के मध्य तक वह कश्मीर तक पहुंच जाती है। इसी बीच वह भारतीय प्रायद्वीप के अन्य भागों तथा गंगा के कछार में भी फैल जाती है।

मानसून पवनें भारत में केवल दक्षिण-पश्चिम दिशा से ही प्रवेश नहीं करती। बंगाल की खाड़ी पर से आने वाली मानसून दक्षिण दिशा से आता है और गंगा-ब्रह्मपुत्र के डेल्टा और बांग्ला देश से भारत की सीमा में प्रवेश करती है। यह मानसून भी बहुत तेजी से आगे बढ़ती हैं और जून के प्रथम सप्ताह में ही कलकत्ता शहर पर से गुजरती हुई असम में जा पहुंचती हैं। यहां से वह उत्तर की ओर बढ़ना चाहती हैं पर हिमालय पर्वत उनका मार्ग रोक देता है। अतएव उसे अपना रुख पश्चिम की ओर करना पड़ता है। पर ऐसा करते समय वह भारत के उत्तर-पूर्वी इलाकों में भारी वर्षा कर जाती हैं। अब वे गंगा के कछार से, गंगा के बहाव की उल्टी दिशा में, पश्चिम की ओर चल पड़ती हैं। बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश पर वर्षा करती हुई जुलाई के मध्य तक दिल्ली तक जा पहुंचती हैं। पर इसी बीच अरब सागर से आने वाली मानसून पवन भी उनमें मिल जाती हैं। इसीलिए उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग पर दोनों ओर से आने वाले मानसून वर्षा करती हैं।

जुलाई के मध्य तक दोनों मानसून क्षीण पड़ने लगती हैं। सितम्बर के मध्य तक अपने बचे-खुचे जलवाष्प भंडार को भी समाप्त कर वे "लौटने की" तैयारी करने लगती हैं। समझा जाता है कि गर्मी की मानसून पवनों का कार्यकाल मात्र जून से लेकर मध्य सितंबर तक, लगभग 100 दिनों का होता है। अक्टूबर के अंत तक वह पंजाब, राजस्थान तथा मध्य भारत से भी वापस आ जाती हैं।

वर्षा

देश में अधिकांश, लगभग 75 प्रतिशत वर्षा, गर्मी की मानसून से जून से सितंबर तक की अवधि में होती है। इसीलिए यह अवधि वर्षा ऋतु कहलाती है। इस दौरान देश के मैदानी भागों में औसतन 925 मिमी. पानी बरस जाता है जबकि वर्ष के बाकी आठ महीनों में औसतन 145 मिमी. पानी ही बरसता है।



गर्मी की मानसून की (लगभग) आगमन तिथियां

गर्मी की मानसून के वास्तविक आगमन से पहले भारतीय प्रायद्वीप और देश के उत्तर-पूर्वी भाग में अकसर बड़े पैमाने पर तड़ित् झंझाएं आते हैं। इन तूफानों में तेज पवन ही नहीं होतीं वरन् वर्षा करने वाले घने मेघ भी होते हैं और बिजली भी चमकती रहती हैं। यदि वायुमंडल में नमी की मात्रा काफी होती है तब ये झंझा काफी समय तक रहे आते हैं और काफी मात्रा में वर्षा करते हैं। यद्यपि आम व्यक्ति की दृष्टि में इन झंझाओं से होने वाली वर्षा और मानसूनों से होने वाली वर्षा में कोई अंतर नहीं होता परंतु मौसमवैज्ञानिक प्रथम प्रकार की वर्षा को "मानसून-पूर्व की वर्षा" कहते हैं। कभी-कभी मानसून-पूर्व की वर्षा इतने अधिक समय तक होती रहती है कि उस समय तक वास्तविक मानसून भी आ जाती है।

आमतौर पर मानसून-पूर्व की वर्षा एकाएक, थोड़ी देर तक, परंतु बहुत तेज होती है जबकि मानसून वर्षा लगातार, हल्की-हल्की, काफी देर तक, होती रहती है। मानसून - पूर्व की वर्षा स्तरी मेघों से होती है जबकि मानसून वर्षा कपासी मेघों से।

इन मानसून-पूर्व तड़ित् झंझाओं के फलस्वरूप उत्तर भारत में मौजूद गर्मी की लहर समाप्त हो जाती है। उत्तर भारत में, विशेष रूप से राजस्थान में, गर्मी की ऋतु में आने वाली धूल भरी आंधियां रुक जाती हैं। वायुमंडल का ताप काफी कम हो जाता है और उसमें निलंबित धूल वर्षा के साथ धरती पर आ जाती है। इस प्रकार वर्षा के पहले झोंके का आगमन बहुत सुखद होता है।

उत्तर-पूर्वी भारत में, विशेष रूप से बिहार, बंगाल और असम में, अप्रैल-मई के महीनों में तेज तूफानी पवन चलने लगती हैं। ये अपने साथ गरजते-बरसते मेघ भी लाती हैं। ये मेघ आमतौर पर मूसलाधार बारिश करते हैं। अनेक बार यह बारिश बहुत तेज होती है और एक घंटे में 5 सेंमी. तक हो जाती है। पर यह लगातार नहीं होती। बंगाल में इन पवनों को "काल बैशाखी" (वैशाख मास में आने वाले काले मेघ) कहा जाता है। काल बैशाखी से होने वाली वर्षा भी मानसून-पूर्व वर्षा होती है।

अनेक अवसरों पर गर्मी की मानसून में इतनी ऊर्जा नहीं होती कि वह पश्चिमी घाट को पार करने के लिए ऊंची उठ सकें। तब वह इस पर्वत द्वारा परावर्तित हो जाती है। इस प्रकार वापस लौटने वाली पवन भ्रमिल पैदा कर देती हैं। ये भ्रमिल, जिनका व्यास 100 किमी. के लगभग होता है, 2-3 दिन तक भारी वर्षा करने में सक्षम होते हैं। पश्चिमी तट पर इस प्रकार भी वर्षा होती है।

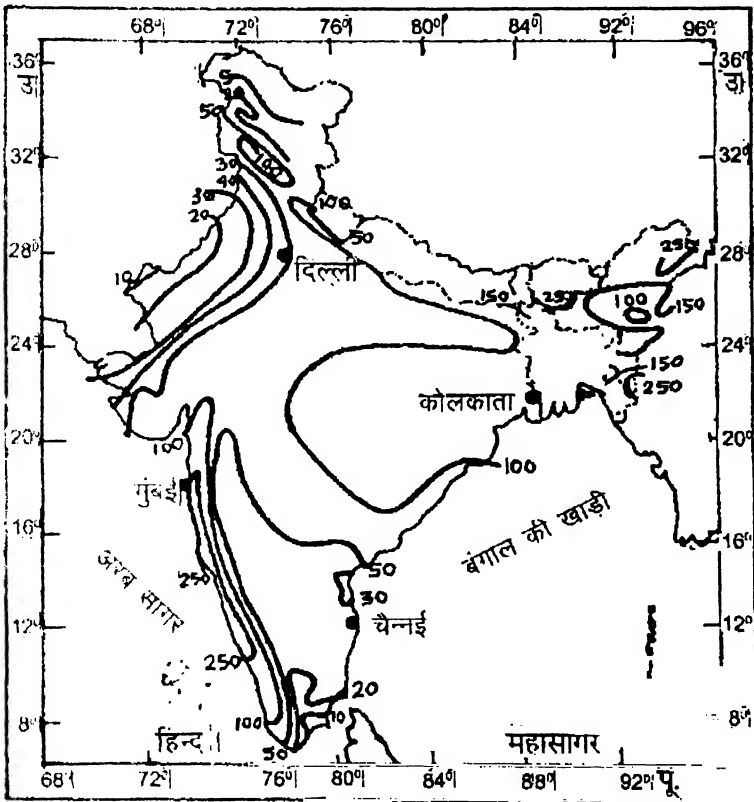
जब मानसून पवन पश्चिमी घाट को पार कर दक्षिणी प्रायद्वीप के आंतरिक भागों में पहुंचती हैं तब उसका जल वाष्प भंडार बहुत कम रह जाता है। अतएव वहां वर्षा काफी कम होती है।

भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में वर्षा बंगाल की खाड़ी से आने वाली मानसून पवन से होती है। उस क्षेत्र में हिमालय पर्वत शृंखलाओं तथा खासी, लुशई, जंतिया आदि पर्वतों की स्थितियां ऐसी हैं कि मानसून वहां "धिर" जाती है। जब तक वह उस घिराव से निकलने में सफल होती है और अपनी दिशा उत्तर से बदलकर पश्चिम की ओर कर पाती है तब तक उसकी जल वाष्प की काफी मात्रा वर्षा के रूप में बरस चुकी होती है।

गर्मी की मानसून दक्षिणी राज्यों — आंध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, और केरल — राज्यों में भी वर्षा करती है परंतु वहां अधिकांश वर्षा ठंड के मानसून से होती है। तमिलनाडु के अधिकांश भागों में गर्मी की मानसून से केवल 48 प्रतिशत वर्षा ही होती है। बाकी 52 प्रतिशत ठंड के मानसून से, नवंबर-दिसंबर महीनों में होती है।

इस संबंध में सर्वाधिक सनसनीखेज तथ्य है चेरापूंजी में होने वाली वर्षा। मेघालय राज्य में स्थित छोटे से शहर, चेरापूंजी, ($25^{\circ}15'$, उत्तर, $91^{\circ}44'$, पूर्व) में देश में सबसे अधिक वर्षा होती है — औसतन 1087 सेमी. प्रतिवर्ष। इसमें से लगभग 65 प्रतिशत जून, जुलाई और अगस्त महीनों में होती है। वहां दिसंबर और जनवरी के महीनों में इतना कम पानी बरसता है कि नदी-नाले भी सूखने लगते हैं।

भारतीय मौसमविज्ञान विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष, डा. ब्लैनफील्ड के अनुसार 14 जून, 1876 को एक ही दिन में चेरापूंजी में 103.6 सेमी. वर्षा हुई थी। यह संसार में कहीं भी एक अकेले दिन में वर्षा होने का रिकार्ड है और यह रिकार्ड अब टूटा तक नहीं है।



गर्मी की मानसून से होने वाली वर्षा का वितरण
(वर्षा की मात्रा सेमी. में)

चित्र 23

कुछ लोगों का यह मत है कि संसार में सबसे अधिक वर्षा प्राप्त करने का श्रेय चेरापूंजी के निकट स्थित मावसीनाराम को मिलना चाहिए। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार मावसीनाराम ($25^{\circ}18'$, उत्तर, $91^{\circ}35'$, पूर्व) की औसत वार्षिक वर्षा 1141 सेमी. है जो निश्चय ही चेरापूंजी से अधिक है।

चेरापूँजी और मावसीनाराम खासी पर्वत, जिसकी औसत ऊँचाई लगभग 1.5 किमी. है, के दक्षिणी ढाल पर स्थित हैं। वहाँ इतनी अधिक वर्षा होने का श्रेय निकट के पर्वतों की स्थिति तथा वायुमंडलीय संवहन धाराओं को दिया जाना चाहिए। वैसे दोनों स्थान दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाली एक गहरी घाटी के उत्तरी छोर पर स्थित हैं। इसलिए दक्षिण की ओर से आने वाली मानसून उस घाटी में “फंस” जाती हैं और अंततः वे घाटी के छोर पर स्थित इन दोनों स्थानों से लंबवत टकराती हैं। इसीलिए इन स्थानों पर इतनी अधिक वर्षा होती है।

यदि हम यह मान लें कि दक्षिण की ओर से लगभग 40 किमी. प्रति घंटे की गति से बहने वाली जल वाष्प युक्त पवन समग्र रूप से ऊपर उठ जाती हैं तब प्रतिदिन 44.7 सेमी. पानी बरसना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं होगी। चेरापूँजी में वास्तव में ऐसा ही होता है।

इस संबंध में एक विचित्र तथ्य यह है कि चेरापूँजी में अधिकांश पानी दिन में, सुबह के समय ही, बरसता है। समझा जाता है कि इसका मुख्य कारण दो भिन्न-भिन्न वायु राशियों का एक साथ आ जाना है। वर्षा ऋतु में मानसून ब्रह्मपुत्र घाटी में आमतौर से पूर्व या उत्तर-पूर्व से आती हैं। दूसरी ओर दक्षिण असम से भी पवन दक्षिण दिशा से आती हैं। ये दोनों पवन खासी पर्वत के निकट आकर आपस में मिल जाती हैं। पवनों का यह “मिश्रण” रात के समय घाटी में “घिरा” रहता है पर सुबह होते ही वह पर्वत पर ऊपर की ओर चढ़ने लगता है। इससे अकसर सुबह के समय भारी वर्षा होती है।

आमतौर से मानसून की वर्षा हल्की, लगातार, कई दिनों तक होती रहती है। पर कभी-कभी मानसून से कई दिनों तक भारी वर्षा भी होती है। वैसे ऐसे अवसर भी आते हैं जब कुछ घंटों में ही बहुत अधिक पानी बरस जाता है। कभी-कभी वृष्टि प्रस्फोट (क्लाउड बस्ट) भी हो जाता है। यद्यपि ऐसा आमतौर से पर्वतीय प्रदेशों में होता है पर मैदानी इलाके भी वृष्टि प्रस्फोट से अछूते नहीं रहते।

यद्यपि भारत के अनेक क्षेत्रों में हर वर्ष समान मात्रा में वर्षा नहीं होती — किसी वर्ष बहुत अधिक वर्षा हो जाती है तो किसी वर्ष बहुत कम, परंतु कुछ क्षेत्रों में वर्षा की यह घट-बढ़ 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होती। इस बारे में विचित्र तथ्य यह है कि देश के उत्तर-पूर्वी भागों में जहाँ सामान्यतः काफी अधिक वर्षा होती है, यह घट-बढ़ बहुत कम होती है। इसके विपरीत कम वर्षा वाले भाग यथा देश के उत्तर-पश्चिमी भाग, राजस्थान, तमिलनाडु आमतौर से वर्षा की घट-बढ़ से त्रस्त रहते हैं।

मानसून अवकाश और अवनमन

वर्षा ऋतु में कुछ दिनों तक विशेष रूप से जुलाई और अगस्त के महीनों में अकसर ऐसा होता है कि वर्षा होते रहने के बाद, हिमालय की तराई और प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वी भाग को छोड़कर, लगभग पूरे देश में एक सप्ताह या कुछ अधिक समय के लिए वह थम जाती है। वर्षा में यह रुकावट “मानसून अवकाश” (मानसून ब्रेक) कहलाती है। मौसमवैज्ञानिकों के अनुसार इस दौरान मानसून द्रोणी उत्तर की ओर सरक जाती है और उसकी धुरी हिमालय की तलहटी में पहुंच जाती है। उस समय पूरे देश में वायु दाब बढ़ जाता है। वायुमंडल के निचले स्तरों पर दक्षिण से आने वाली पवन पश्चिमी पवनों द्वारा प्रतिस्थापित हो जाती है। इससे हिमालय की तलहटी में भारी वर्षा होती है और हिमालय से निकलने वाली नदियों में बाढ़ आ जाती है जबकि मैदानी भाग सूखे रहे आते हैं।

मानसून अवकाश के बाद बंगाल की खाड़ी में उत्पन्न अवनमनों से बारिश होने लगती है। वर्षा ऋतु में, विशेष रूप से जुलाई और अगस्त महीनों में, बंगाल की खाड़ी में भी औसतन दो-तीन अवनमन

पैदा हो जाते हैं। इन अवनमनों का विस्तार लगभग 300 किमी. होता है।

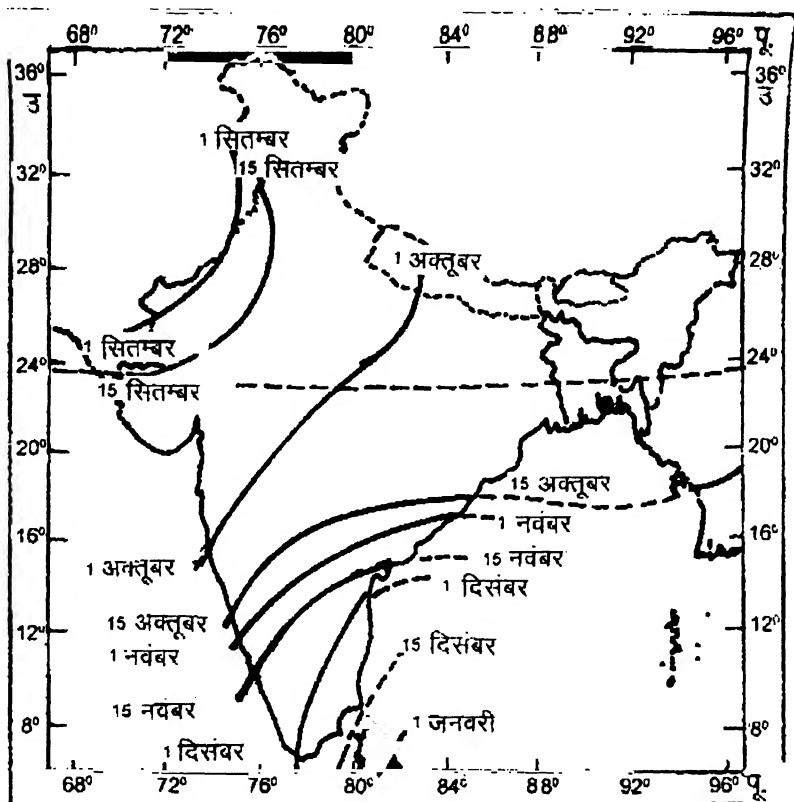
आमतौर से अवनमनों की अवधि लगभग एक सप्ताह होती है और वे सदैव पूर्वी एशिया से पश्चिम की ओर, भारत के पूर्वी तट की ओर आते हैं। लगभग तीन-चार दिन तक आगे बढ़ते रहने के बाद वे उत्तर या उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़ जाते हैं। जैसे-जैसे अवनमन हमारे तट की ओर बढ़ते जाते हैं, बंगाल के दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी भागों में तथा निचले असम में वर्षा होने लगती है। बाद में वर्षा का प्रकोप उड़ीसा, बिहार और छोटा नागपुर की ओर बढ़ जाता है। जिस समय तक अवनमन उड़ीसा का तट पार करके मध्य प्रदेश में प्रवेश करते हैं तब तक अरब सागर में भी अवनमनों के निर्माण से मानसून फिर से प्रबल हो जाती है। इसके फलस्वरूप मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भाग में वर्षा का एक और दौर आरंभ हो जाता है। उसके बाद बंगाल की खाड़ी से आरंभ होने वाले अवनमनों के उत्तर-पश्चिम भारत के कम दाब वाले क्षेत्र में विलय हो जाने से पहले ही गुजरात और राजस्थान में भी वर्षा होने लगती है।

यद्यपि बंगाल की खाड़ी में उत्पन्न होने वाले अवनमन आमतौर से शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं या उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ जाते हैं परंतु यदा-कदा वे मुड़कर पंजाब और कश्मीर के उपहिमालयी क्षेत्रों में भी पहुंच जाते हैं। उस स्थिति में कभी-कभी अवनमनों को अरब सागर से आने वाली मानसून अतिरिक्त जलवाष्प सप्लाई कर देती है। यदि ऐसा हो जाता है तब पंजाब और हिमालय के पहाड़ी इलाकों में बहुत भारी वर्षा हो जाती है।

अधिकांशतः सितंबर तक गर्मी की मानसून कमजोर पड़ जाती है और वर्षा थम जाती है परंतु अनेक बार कुछ दिनों के अंतराल के बाद मानसून फिर से जोर पकड़ लेती है और बंगाल की खाड़ी में नए अवनमन उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा हो जाने पर पुराना चक्र एक बार फिर से चालू हो जाता है।

बंगाल की खाड़ी में पैदा होने वाले अवनमनों का एक विशेष लक्षण होता है — उनके पथ के दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी भागों पर वर्षा का होना। इन अवनमनों के सदैव पश्चिम की ओर बढ़ने के कारण के बारे में अब भी मौसमवैज्ञानिकों को पूरी जानकारी नहीं है, यद्यपि वे पिछली अर्धशताब्दी से भी अधिक समय से इस बारे में अध्ययन कर रहे हैं। आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व, भारतीय मौसमवैज्ञानिक, श्री दोराईस्वामी अय्यर ने 1884 से 1930 तक की अवधि में प्रशांत महासागर और दक्षिण चीन सागर से आने वाले चक्रवातीय तूफानों के पथों का अध्ययन करने पर यह पाया था कि 370 में से 135 तूफानों के "अवशेष" भारत पर से भी गुजरे थे। इंडोचाइना या दक्षिण चीन को पार करते हुए ये तूफान बंगाल की खाड़ी के उत्तरी भाग में प्रवेश कर गए थे और यहां उन्होंने अवनमन जैसी स्थितियां पैदा कर दी थीं। श्री अय्यर के पास न तो परिष्कृत उपकरण थे और न ही पर्याप्त आंकड़े। इसलिए उनके प्रेक्षकों के निष्कर्षों पर लोगों ने समुचित ध्यान नहीं दिया था। परंतु आज से लगभग 25 वर्ष पूर्व दो भारतीयों, के.आर. साहा और जे. शुक्ला, ने मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी के एफ. सैंडर्स के साथ इस विषय में पुनः अध्ययन आरंभ किए। उन्होंने 1969 से 1978 तक की, दस वर्ष की, अवधि में बंगाल की खाड़ी में उत्पन्न होने वाले 52 निम्न दाबों और अवनमनों के अध्ययन किए। उन्होंने पाया कि इनमें से 50 थाईलैंड के उत्तर-पश्चिमी भाग

में उत्पन्न होने वाले विक्षोभों के पश्चिम की ओर के विस्तार थे। साथ ही इनमें से 32 बाद में बंगाल



गर्मी की मानसून की वापसी की (लगभग) तिथियां

चित्र 24

की खाड़ी में उत्पन्न विक्षोभों से संबद्ध हो गए थे। बाकी सब उष्णकटिबंधीय चक्रवातों के अवशेष या दक्षिण चीन सागर में पैदा हुए विक्षोभ थे अथवा उनका उद्गम थल पर हुआ था।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल की खाड़ी में पैदा होने वाले अवनमनों में से अधिकांश पूर्व से आने वाले विक्षोभों द्वारा सक्रिय होते हैं। पर कुछ लोगों का सुझाव है कि बंगाल की खाड़ी में उस समय अवनमन पैदा होते हैं जब पवन का बहाव और उसका ताप वायुमंडल में अस्थायित्व उत्पन्न कर देता है। ये अवनमन वायुमंडल की अस्थिरता की अभिव्यक्ति होते हैं। वैसे उष्णकटिबंधों के वायुमंडल में अनेक प्रकार के अस्थायित्व पैदा होते ही रहते हैं।

प्रयोगों में पाया गया है वायुमंडल में प्रति 100 मीटर ऊंचाई पर 1° सै. की दर से ताप गिरने

पर वायुमंडल विकोभों की उपस्थिति में, अस्थिर हो जाता है। यह ताप-हास दर बहुत महत्वपूर्ण होती है। तड़ित् झंझा, टोरनेडो और चक्रवात आदि उस समय उत्पन्न होते हैं जब ताप-हास दर 1° सें. प्रति 100 मीटर से अधिक हो जाती है।

अंतर्राष्ट्रीय हिंद महासागर अभियान के दौरान किए गए अध्ययनों में यह पाया गया कि पश्चिमी भारत - विशेष रूप से महाराष्ट्र के उत्तरी भाग, सौराष्ट्र और कच्छ में होने वाली भारी वर्षा का संबंध मध्य वायुमंडल तक सीमित चक्रवातीय भ्रमिलों से होता है। ये वृत्ताकार रूप में धरती की सतह से 3 से 6 किमी. की ऊंचाई पर प्रगट होते हैं। वैसे इनकी सबसे अधिक संख्या 4 किमी. ऊंचाई पर होती है। क्षैतिज रूप से इनका विस्तार लगभग 300 किमी. होता है। इन भ्रमिलों के बारे में विचित्र बात यह है कि ये धरती से दिखाई नहीं देते।

बंगाल की खाड़ी में पैदा होने वाले अवनमनों के विपरीत ये भ्रमिल आगे नहीं बढ़ते - कई दिनों तक एक ही स्थान पर स्थित रहे आते हैं। जैसा कि आप ऊपर पढ़ चुके हैं ये भ्रमिल हमारे पश्चिमी तट के उत्तरी भाग पर भी भारी वर्षा करते हैं। इनके परिणामस्वरूप 24 घंटों में 20 मिमी. तक पानी बरस जाना कोई अनोखी बात नहीं होती।

ठंड की मानसून

ठंड (उत्तरी गोलार्द्ध की शीत ऋतु) में सूर्य की किरणें मकर रेखा के आसपास के क्षेत्र पर सीधी पड़ती हैं। इसलिए उस समय अंतःउष्णकटिबंधीय अभिसरण क्षेत्र दक्षिणी गोलार्द्ध में मकर रेखा के पास सरक जाता है। इसके प्रभाव वायुमंडल के ताप और दाब पर भी पर भी पड़ने लगते हैं। वास्तव में ये प्रभाव सितंबर मास में ही प्रगट होने लगते हैं। उस समय आस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग और इंडोनेशिया के दक्षिणी भाग काफी गर्म हो जाते हैं। इससे वहां वायु दाब 1007 मिलीबार जैसा कम हो जाता है। पर उसी समय साइबेरिया और मध्य एशिया में वायु ताप गिरने लगता है और दाब बढ़ने लगता है। बेकल झील (साइबेरिया) के निकट के क्षेत्र में दिसंबर-जनवरी मास में वायुदाब 1035 मिलीबार जैसा ऊंचा हो जाता है। इससे पवन साइबेरियाई उच्च दाब वाले क्षेत्र से दक्षिण की ओर बहने लगती है। यह पवन ही "ठंड का मानसून" कहलाती हैं। भारत में यह मानसून आमतौर से यह उत्तर-पूर्व दिशा से आता है इसलिए उत्तर-पूर्व "मानसून" भी कहलाता है।

यह थल पर से जल (सागर) की ओर बहती है। इसलिए इसमें जल वाष्प की बहुत कम मात्रा मौजूद होती है पर जब इसे सागर पर से बहने का अवसर मिल जाता है तब यह भी जल वाष्प भंडारित कर लेता है और अनुकूल परिस्थितियां उपलब्ध हो जाने पर वर्षा कर देता है। तमिलनाडु तथा श्रीलंका, मलेशिया, इंडोनेशिया और आस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग में ठंड (उत्तरी ठंड) में होने वाली वर्षा इसी प्रकार होती है।

ठंड का मानसून गर्मी के मानसून की भांति प्रबल नहीं होता और उससे होने वाली वर्षा लगातार कई दिनों तक होने की बजाय रुक-रुक कर होती है। वह एक-दो दिन होकर रुक जाती है। कई दिनों तक रुकी रहती है। पर फिर एक-दो दिनों के लिए होने लगती है। ऐसा कई बार होता है। वर्षा के इन दौरों के साथ ठंडी पवन के प्रबल झोंके भी आते हैं। यह वायु साइबेरिया और चीन के ऊपर

स्थित प्रतिचक्रवातों से आती है। कभी-कभी साइबेरिया के प्रतिचक्रवातों के साथ दक्षिण चीन सागर और पश्चिमी प्रशांत महासागर में उत्पन्न होने वाले निम्न दाब क्षेत्र भी संबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले विक्षोभ धीरे-धीरे पश्चिम की ओर बढ़ते हैं और इनसे विस्तृत क्षेत्रों में, विशेष रूप से सारावाक और मलेशिया के पूर्वी तट पर वर्षा होती है।

कुछ अवसरों पर ये निम्न दाब द्रोणियों में परिवर्तित हो जाते हैं। इस के फलस्वरूप होने वाली वर्षा काफी भीषण होती है जिससे आमतौर से भयंकर बाढ़ आ जाती है। 3 जून, 1971 को मलेशिया में हुई भीषण, मूसलाधार वर्षा इस प्रकार से हुई थी। समझा जाता है कि उक्त घटना निम्न दाब प्रणाली और मध्य एशिया से आने वाली ठंडी वायु की अंतःक्रिया के फलस्वरूप हुई थी।

उक्त अवधि में लगभग एक सप्ताह का समय ऐसा होता है जब तमिलनाडु में गर्मी और सर्दी, दोनों की, मानसून पवन सक्रिय होती है। धीरे-धीरे गर्मी का मानसून निर्बल होता जाता है और ठंड का मानसून सक्रिय होने लगता है। वैसे ठंड के मानसून का आगमन इतना सुस्पष्ट नहीं होता जितना गर्मी के मानसून का। इसलिए तमिलनाडु के विभिन्न भागों में ठंड के मानसून की आगमन तिथियों का सही पूर्वानुमान लगाना कठिन होता है।

तमिलनाडु और आसपास के इलाकों में सर्दियों की वर्षा के साथ अक्टूबर और नवंबर में कई बार चक्रवातीय तूफान भी आ जाते हैं। 5 से 15° उत्तर अक्षांशों के बीच की पट्टी में सक्रिय ये तूफान आमतौर से बंगाल की खाड़ी में उत्पन्न होते हैं और भारतीय प्रायद्वीप को पार करके अरब सागर तक जा पहुंचते हैं। वहां पहुंचने पर ये अधिक तीव्र हो जाते हैं। इनमें से कुछ पूर्व की ओर मुड़ जाते हैं और पश्चिमी तट को पार करके एक बार फिर भारत में प्रवेश कर जाते हैं। गर्मी के मानसून के अवनमनों के विपरीत इन तूफानों के मार्ग के उत्तर की ओर ही अधिक वर्षा होती है।

भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में, विशेष रूप से पूर्वी तट के दक्षिणी भाग में सर्दियों में, होने वाली वर्षा बहुत हद तक चक्रवातीय तूफानों पर निर्भर होती है। जैसे-जैसे हम प्रायद्वीप के आंतरिक भागों की ओर जाते हैं वर्षा की मात्रा कम होती जाती है।

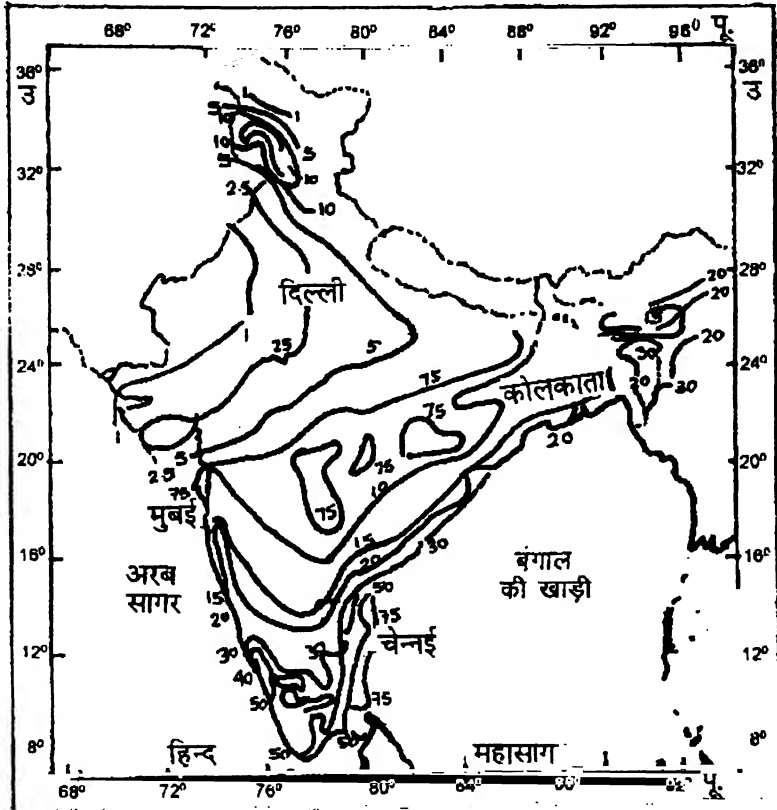
ठंड की ऋतु में भारतीय प्रायद्वीप के ऊपर बहने वाली पवनों के निचले भाग (1.5 किमी. तक की ऊंचाई पर बहने वाले भाग पर) की दिशा उत्तर से दक्षिण या उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर होती है। इसके ऊपर पवनों की दिशा पूर्व से पश्चिम की ओर होती है। ऊपरी वायुमंडल में, 3 किमी. से ऊपर, दक्षिणी अथवा दक्षिण-पूर्वी पवन बहती है। साथ ही ठंड की ऋतु में दक्षिण भारत के ऊपरी वायुमंडल में पूर्वी जेट प्रवाह का बहना बंद हो जाता है।

ठंड के मानसूनों के दौरान तमिलनाडु में सबसे अधिक ताप 10° उत्तर अक्षांश के निकट होता है। जैसे-जैसे हम उत्तर की ओर जाते हैं ताप गिरता जाता है। 30° उत्तर अक्षांश तक पहुंचने पर ताप 8° से नीचे गिर जाता है।

उष्णकटिबंधीय चक्रवात

अनेक बार वायुमंडल का दाब अवनमन के निम्न दाब से भी कम हो जाता है। साथ ही निम्न दाब क्षेत्र का विस्तार भी बहुत कम होता है तथा वायु बहुत अधिक घूर्णन करने लगती है। ये परिस्थितियां

उष्णकटिबंधीय तूफान या चक्रवात को जन्म देती हैं। यदि ये चक्रवात थल पर पहुंच जाते हैं तब धन और जन की बहुत हानि होती है। उनके बारे में अच्छी बात यह है कि इस प्रकार के चक्रवात मानसून की ऋतु में बहुत कम पैदा होते हैं।



ठंड की मानसून से होने वाली वर्षा का वितरण

चित्र 25

उष्णकटिबंधीय चक्रवात अरब सागर की तुलना में बंगाल की खाड़ी में अधिक पैदा होते हैं। मौसमवैज्ञानिकों द्वारा एकत्रित आंकड़ों के अनुसार वर्ष 1877 से 1980 तक की अवधि में बंगाल की खाड़ी में 281 चक्रवात पैदा हुए और अरब सागर में 30 चक्रवात। इनमें से बंगाल की खाड़ी के 100 और अरब सागर के 16 चक्रवात तीव्र थे। साथ ही अक्टूबर-नवंबर में इनकी संख्या सबसे अधिक और जनवरी-फरवरी में सबसे कम पायी गई। वैसे मानसून ऋतु का आरंभ इन चक्रवातों के जन्म के लिए अधिक उपयुक्त समय होता है। (देखिए तालिका : 2 और 3)

बंगाल की खाड़ी में मई के महीने में चक्रवातों की संख्या में वृद्धि होने लगती है। उनमें से अधिकांश 10 से 15° उत्तर अक्षांशों के बीच के क्षेत्र में पैदा होते हैं। मानसूनों के आरंभ हो जाने पर उनका निर्माण—क्षेत्र उत्तर की ओर सरक जाता है। जुलाई के महीने में वह 18° उत्तर अक्षांश से ऊपर पहुंच जाता है। उस महीने में उत्पन्न होने वाले अधिकांश चक्रवात पश्चिम की ओर मुड़ जाते हैं।

मानसून का महत्व

मानसून पवन हमारी अर्थव्यवस्था के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उनके महत्व को दृष्टि में रखकर हमारे एक भूतपूर्व वित्त मंत्री ने कहा था “हमारे देश का बजट मानसून की कृपा पर निर्भर रहता है।”

मौसमवैज्ञानिक भी भारतीय जन-जीवन में मानसून पवनों के इस महत्व के बारे में पूरी तरह सजग हैं। इसलिए वे इन पवनों की गतिविधियों का विभिन्न स्तरों पर निरंतर अध्ययन करते रहते हैं।

आपको यह जानकर शायद आश्चर्य हो कि एक सामान्य “मानसून वाले” (वर्षा वाले) दिन दक्षिण-पश्चिम मानसून जलवाष्प की 7,500 करोड़ टन जैसी अत्यंत विशाल मात्रा पश्चिमी तट के पार ले जाता है। जल वाष्प की यह मात्रा अत्यंत विशाल है। इसकी विशालता अनुमान इस से हो सकता है कि पूरे भारत के मैदानी इलाकों, (क्षेत्रफल लगभग 15 लाख वर्ग किमी.) पर 0.7 इंच (1.7 सेमी.) वर्षा होने में केवल 2,500 करोड़ टन वाष्प ही जल में परिवर्तित होती है।

अब यदि हम जल वाष्प की इस कल्पनातीत मात्रा के एक बहुत थोड़े से अंश को भी वर्षा में बदल सकें तब हमें कभी भी, किसी भी कार्य के लिए, पानी की कमी महसूस नहीं होगी। तब शायद हम राजस्थान जैसे सूखे इलाके को भी सदाबहार वनों से अच्छादित करने का सपना देख सकेंगे।

उक्त कल्पना को साकार करने की दिशा में पहला कदम होगा मानसून हवाओं की गतिविधियों का सूक्ष्मता से गहन अध्ययन करना। आश्चर्यजनक प्रतीत होते हुए भी यह सच है कि पिछले लाखों वर्षों से मानसून पवनों के साल में दो बार आने के बावजूद भी, और उनके इतने महत्वपूर्ण होने के बावजूद भी इस शताब्दी के मध्य तक वैज्ञानिकों को उनकी उत्पत्ति के बारे में अनेक तथ्यों की जानकारी नहीं थी। उनके बारे में वे मात्र अटकलें लगाते थे। इसका एक प्रमुख कारण था भूमध्यरेखिक क्षेत्र में, जहां मानसून उत्पन्न होता है, बड़े पैमाने पर पवनों की गतिविधियों की जानकारी का अभाव। इसलिए मौसमवैज्ञानिकों ने 1962 में आरंभ होने वाले अंतर्राष्ट्रीय हिंद महासागर अभियान के दौरान हिंद महासागर के ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन की भी योजना तैयार की थी। इस योजना के नियंत्रण का उत्तरदायित्व मुंबई में, 1963 में, स्थापित एक केंद्र को सौंपा गया। इसके अंतर्गत ऊपरी वायुमंडल में पवनों की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने हेतु विशेष उपकरणों से लैस वायुयानों द्वारा अनेक आवीक्षण (रिकनाइसंस) उड़ानें भरी गईं। इनमें से एक उड़ान भारत के पश्चिमी तट पर आए एक चक्रवात के इर्द-गिर्द भी भरी गई थी। इन उड़ानों तथा अन्य प्रयोगों से प्राप्त जानकारी के आधार पर पहली बार हिंद महासागर के ऊपरी वायुमंडल के विस्तृत मानचित्र तैयार करने में सफलता मिली।

वायुयानों की मदद से किए गए अवलोकनों से पता चला कि 65° पूर्व, देशांतर से पश्चिम की ओर मानसून पवनों की परत काफी पतली — केवल 1.5 किमी. मोटी होती है। पर पूर्व की ओर बढ़ने पर वह परत तेजी से मोटी होती जाती है और भारत के पश्चिमी तट पर उसकी मोटाई 6 किमी. जैसी

हो जाती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 65° पूर्व देशांतर एक ऐसी काल्पनिक रेखा है जिसके दोनों ओर की मानसून पवनों के भौतिक अभिलक्षणों में बहुत अंतर होता है। वे अलग-अलग वायु राशियों की भांति व्यवहार करती हैं। उक्त देशांतर के पश्चिम में ताप-हास-दर उल्टी होती है अर्थात् ठंडी वायु गर्म वायु की परत के ऊपर स्थित होती है।

समझा जाता है कि मानसून हवाओं को इस प्रकार की दो वायु राशियों में विभक्त करने में पश्चिमी घाट पर्वत का बहुत योग है। भारत के पश्चिमी तट पर लगभग 1000 किमी. तक उत्तर-दक्षिण दिशा में, दीवार की भांति स्थित इस पर्वत को पार करने के लिए जलवाष्प से युक्त दक्षिण-पश्चिम मानसून को एकाएक लगभग 6 किमी. ऊपर उठना पड़ता है। इस वजह से 65° पूर्व देशांतर के पूर्व में मानसून की परत काफी मोटी हो जाती है।

65° पूर्व देशांतर के पश्चिम में ताप प्रतिलोमन (गर्म पवन की परत के ऊपर ठंडी, भारी वायु की परत के स्थित होने) के बारे में कुछ लोगों का मत है कि ऐसा वायु के बड़े पैमाने पर अवतलन (वायु के ऊपर से नीचे की ओर आने) के फलस्वरूप होता है। मौसमवैज्ञानिकों के अनुसार जब हल्की गर्म वायु किसी कारण से नीचे की ओर भारी और अपेक्षाकृत ठंडी वायु परतों की ओर आने लगती है, तब ताप की हास-दर में काफी परिवर्तन हो जाता है। यदि हम यह मान लें कि 65° पूर्व देशांतर के साथ होने वाला ताप प्रतिलोमन वायु के अवतलन के परिणामस्वरूप होता है तब सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि पाकिस्तान और सऊदी अरब वायु के विशाल अवतलन क्षेत्र हैं।

1970 के दशक का आरंभ होने तक मौसमवैज्ञानिकों को यह भली-भांति स्पष्ट हो चुका था कि मानसून पवनों की गतिविधियों की अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए उन्हें सागरों पर भी प्रयोग करने होंगे। इस दृष्टि से वर्ष 1973 और 1977 में दो प्रयोग किए गए। ये थे :

(1) भारत-सोवियत मानसून प्रयोग — (इंडो-सोवियत मानसून एक्सपेरिमेंट) — 1973; और

(2) मानसून-77

इन प्रयोगों में पता चला कि भूतल पर वास्तव में एक ऐसा क्षेत्र है जहां दक्षिणी गोलार्द्ध की मानसून पवन उत्तर की ओर, भारत की ओर आती हुई भूमध्यरेखा को पार करती हैं। यह क्षेत्र केन्या के पूर्वी तट के निकट सागर पर स्थित है। इस क्षेत्र में मानसून पवनों का प्रवाह काफी प्रबल होता है। पर वे धरती से 1.5 से 2.0 किमी. ऊंचाई तक ही स्थित होती हैं। इस प्रवाह के असर महाराष्ट्र में होने वाली वर्षा की घट-बढ़ पर भी पड़ते हैं।

मानसून - 77 प्रयोग में बंगाल की खाड़ी के वायुमंडल के ऊपरी भागों में वायु की गतिविधियों के अध्ययन किए गए थे।

विश्व वायुमंडलीय अनुसंधान कार्यक्रम : 1960 के दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पारित एक प्रस्ताव के अनुसार विश्व मौसमविज्ञान संगठन (वर्ल्ड मेटेओरोलॉजिकल ऑर्गेनाइजेशन) और इंटरनेशनल कौंसिल ऑफ साइंटिफिक यूनियन्स ने संयुक्त रूप से, वर्ष 1979 में, एक विश्वव्यापी वायुमंडलीय अनुसंधान कार्यक्रम (जी.ए.आर.पी.—ग्राप) आयोजित किया। इस कार्यक्रम के अंतर्गत दो दिसंबर 1978 से पूरे एक वर्ष तक विश्वव्यापी स्तर पर वायुमंडल के अध्ययन किए गए। इसमें

अनेक देशों ने सक्रिय भाग लिया और थल तथा सागर पर स्थापित विभिन्न केंद्रों से और मौसम उपग्रहों की मदद से वायुमंडल के विभिन्न पहलुओं के गहन अध्ययन किए गए। वास्तव में वायुमंडल के अध्ययन के लिए इतना बड़ा कार्यक्रम इससे पहले कभी भी आयोजित नहीं किया था। इस कार्यक्रम की विशालता का आभास इस तथ्य से हो सकता है कि मई, 1979 में इस कार्यक्रम में सिर्फ 10° दक्षिण से 10° उत्तर अक्षांशों के बीच के क्षेत्र में ही 52 अनुसंधान पोत अध्ययनरत थे तथा प्रशांत, अंध और हिंद महासागरों पर वायुयानों द्वारा 104 सफल उड़ानें भरी गई थीं। इसी कार्यक्रम का एक भाग था मानसून प्रयोग (एम.ओ.एन.ई.एक्स. - मोनक्स) जो भारत के लिए विशेष रूप से उपयोगी था। मोनेक्स का वास्तविक उद्देश्य था वायुमंडल के व्यापक परिसंचरण पर मानसून पवनों के प्रभाव ज्ञात करना। इस प्रकार के कार्यक्रम में भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा सक्रिय भाग लेना स्वाभाविक ही था।

मोनेक्स : मोनेक्स तीन चरणों में आयोजित किया गया : (1) शीत मोनेक्स - पहली दिसंबर, 1978 से 5 मार्च, 1979 तक - जिसमें पूर्वी हिंद और प्रशांत महासागरों तथा मलेशिया और इंडोनेशिया के ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन किए गए; (2) ग्रीष्म मोनेक्स - पहली मई से 31 अगस्त, 1979 तक - जिसका क्षेत्र अफ्रीका के पूर्वी तट से बंगाल की खाड़ी तक था। इसमें अरब सागर तथा आसपास के थलीय क्षेत्रों के तथा हिंद महासागर की 10° दक्षिण और 10° उत्तर अक्षांशों की बीच की पट्टी के ऊपर के वायुमंडल के अध्ययन किए गए; और (3) पश्चिमी अफ्रीका मानसून प्रयोग - (डब्ल्यू.एम.ई.एक्स. - वेमेक्स - पहली मई से 31 अगस्त, 1979 तक। इसके अंतर्गत अफ्रीका के पश्चिमी और मध्य भागों के वायुमंडल के अध्ययन किए गए।

मोनेक्स के सुचारु आयोजन के लिए नई दिल्ली और क्वालालामपुर (मलेशिया) में एक-एक अंतर्राष्ट्रीय प्रबंधन केंद्र भी स्थापित किए गए। इस अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम में अनेक देशों के वैज्ञानिकों, अनुसंधान पोतों और अनुसंधान वायुयानों ने भाग लिया था। उसमें अपसॉंडे, डाउनसॉंडे और ओमेगासॉंडे जैसे आधुनिकतम उपकरणों तथा दो भूतुल्यकालिक उपग्रहों - "गोज़ इंडियन ओशन" (Goes Indian Ocean) और "मेटेओसैट" (Meteosat) - का भरपूर उपयोग किया गया। इसमें भारत के चार अनुसंधान पोतों और एक वायुयान ने भाग लिया था।

यद्यपि इस कार्यक्रम में अमेरिकी, रूसी और फ्रांस के वैज्ञानिकों तथा अनुसंधान पोतों, वायुयानों आदि ने महत्वपूर्ण योग दिए थे परंतु भारतीय वैज्ञानिकों तथा उनके अनुसंधान पोतों और वायुयानों का भी योग कम नहीं था। भारतीय अनुसंधान पोतों का मुख्य कार्यक्षेत्र भारत के निकटवर्ती इलाकों तक सीमित था। इस कार्यक्रम के अंतर्गत भारतीय वैज्ञानिकों ने ऊपरी वायुमंडल की पवनों के बारे में अध्ययन किए। इन अध्ययनों में गुब्बारों की मदद से ओमेगासॉंडे छोड़े गए और नई नौचालन तकनीकों से उनके उड़ानों के प्रेक्षण किए गए। इनसे पवनों की गति और दिशा के अनुमान लगाए गए। भारतीय अनुसंधान पोत ओमेगासॉंडों के अतिरिक्त ऐसे उपकरणों से भी लैस थे जिनसे पृथ्वी की ओर आने वाले तथा पृथ्वी से अंतरिक्ष की ओर जाने वाले विकिरणों को, ओजोन की मात्रा को तथा वायुमंडल की चालकता तथा आविलता (टर्बिडिटी) को मापा जा सकता था।

मौसमवैज्ञानिक प्रेक्षणों की रिकार्डिंग के लिए एक भारतीय वायुयान (एवरो-747) का भी उपयोग

किया गया। अपने विशेष उपकरणों की मदद से उसने चक्रवात तथा अवनमन परिस्थितियों में वायु के ताप, दाब, नमी की मात्रा, रेडियो तुंगता आदि के बारे में महत्त्वपूर्ण आंकड़े एकत्रित किए।

मोनेक्स कार्यक्रम के दौरान भारतीय मौसमविज्ञान विभाग ने न केवल नए प्रेक्षण केंद्र स्थापित किए वरन् उन्हें आधुनिकतम उपकरणों से लैस भी किया। गुब्बारों में छोड़े गए उपकरणों से प्राप्त संकेतों को ग्रहण करने हेतु आठ प्रेक्षण केंद्रों का एक नेटवर्क स्थापित किया गया। इनके साथ ही मौसमविज्ञान विभाग, अंतरिक्ष विभाग और राष्ट्रीय दूरसंवेदी एजेंसी ने अनेक उपकरणों का निर्माण भी किया।

मौसम संबंधी सामान्य प्रेक्षणों के अतिरिक्त पृथ्वी की सतह के निकट के मौसम को नियंत्रित करने वाले कारकों को मापने हेतु इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस, बंगलौर, ने संयुक्त राज्य अमेरिका की मोनेक्स परियोजना के साथ मिलकर एक विशेष कार्यक्रम भी तैयार किया था। इस कार्यक्रम के अंतर्गत पश्चिम बंगाल में दीघा में विशेष अध्ययन किए गए।

मोनेक्स कार्यक्रम से पूरा लाभ उठाने हेतु उस के कार्यकाल में भारतीय अंतरिक्ष विभाग ने निचले समतापमंडल के अध्ययन हेतु थुम्बा, श्रीहरिकोटा और बालासोर से प्रति सप्ताह एक-एक राकेट की दर से राकेटों का प्रक्षेपण भी किया। इन राकेटों द्वारा प्रेषित जानकारीयों की मदद से यह अनुमान लगाना संभव हो सका कि निचले वायुमंडल में मानसून पवन के परिसंचरण के ऊपरी वायुमंडल पर क्या प्रभाव पड़ते हैं।

इस कार्यक्रम के दौरान अनुसंधान पोतों ने सागर की जलधाराओं और अन्य तत्वों के अध्ययन किए। इनसे मौसमवैज्ञानिकों को सागर और वायुमंडल की अंतःक्रियाओं के बारे में अधिक सही अनुमान लगाने में मदद मिली।

मोनेक्स के आरंभ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने भूतुल्यकालिक उपग्रह "गोज़ इंडियन ओशन" को भूमध्यरेखा पर, 60° पूर्व देशांतर पर, स्थापित कर दिया था। यह उपग्रह बादलों के बारे में प्राप्त आंकड़ों को एक अन्य उपग्रह, मेटैओसेट, (जिसे यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी ने पहले ही, मोनेक्स के लिए विशेष रूप से, प्रक्षेपित कर दिया था) के माध्यम से मुंबई स्थित केंद्र को भेजता था।

अमेरिका के अनुसंधान वायुयानों ने मानसून क्षेत्र के ऊपर पृथ्वी-वायुमंडल प्रणाली के विकिरण संतुलन के बारे में अत्यंत महत्त्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त कीं।

फ्रांस के अनुसंधान पोत ने गर्मी के मानसून के पथ की सही जानकारीयां प्राप्त करने के लिए नियत ऊंचाई (15 किमी. पर) पर उड़ने वाले गुब्बारे छोड़े थे। साथ ही उसने निम्न ऊंचाई पर उड़ने वाले गुब्बारे भी छोड़े थे। निम्न ऊंचाई पर छोड़े गए अति दाब (सुपर प्रेशर) वाले गुब्बारे माहे (सेशल्स) और दीएगा सुआरेज (मैलेगसे रिपब्लिक) से प्रक्षेपित किए गए थे और उपग्रहों से उनकी टोह ली गई थी। इनसे पता चला कि गर्मी का मानसून भूमध्यरेखा को केन्या के पूर्वी तट के निकट से पार करता है। भूमध्यरेखा पर पृथ्वी के घूर्णन से उत्पन्न विचलन लुप्त हो जाता है।

मोनेक्स में किए गए अध्ययनों और प्रयोगों से अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारीयां मिलीं। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं :

केन्या के पूर्वी तट पर धरती की सतह के नजदीक एक प्रबल जेट प्रवाह बहता है जो भूमध्यरेखा

के उत्तर और दक्षिण, दोनों ओर, स्थित है। इसकी तीव्रता में दैनिक परिवर्तन होते रहते हैं। संवहन क्रियाओं के कारण यह रात की अपेक्षा दिन में क्षीण हो जाता है। अध्ययनों में पाया गया है कि इस जेट प्रवाह की तीव्रता में परिवर्तन मौंजाबिक चैनल के झोंकों (सर्ज) से संबंधित होते हैं। कुछ झोंके निम्न दाब प्रणालियों से संबद्ध होते हैं। साथ ही उक्त जेट प्रवाह सोमाली जलधारा और सोमाली तट पर सागर में होने वाले उत्स्रवण से भी, घनिष्ठ रूप से संबंधित है। मानसून (गर्मी का मानसून) की प्रगति के साथ उत्स्रवण का क्षेत्र भी, थोड़ा सा, उत्तर की ओर सरक जाता है।

सोमाली जलधारा के मुख्य प्रवाह में छोटे-छोटे भंवर उपस्थित हैं। इन भंवरों की गतिविधियों तथा जलधारा पर उनके प्रभावों के अध्ययनों से सागर की सतह पर पवनों के प्रतिबलों को समझने में बहुत सहायता मिली है।

मोनेक्स कार्यक्रम के दौरान पता चला कि जब कभी अरब सागर के उत्तरी भाग में कोई बड़ा प्रतिचक्रवात उपस्थित होता है तब गर्मी के मानसूनों के आने में देर हो जाती है।

दक्षिणी गोलार्द्ध की वायु प्रणालियों के फलस्वरूप अफ्रीका के पूर्वी तट के निकट प्रबल वायु प्रवाह उत्पन्न हो जाते हैं। भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर जाने वाले ये प्रवाह मानसून प्रारंभ करते हैं। किसी-किसी वर्ष मानसून के आरंभ होते ही अरब सागर के दक्षिण-पूर्वी भाग में भ्रमिल उत्पन्न हो जाते हैं। इन भ्रमिलों के निर्माण के साथ ही वायुमंडल की गतिज ऊर्जा में वृद्धि हो जाती है। यद्यपि हर वर्ष भ्रमिल उत्पन्न नहीं होते पर मानसून के बहना आरंभ करने पर वायुमंडल की गतिज ऊर्जा में अवश्य वृद्धि हो जाती है।

भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र और पश्चिमी एशियाई देशों के सूखे और अर्द्धसूखे क्षेत्रों के वायुमंडल में धूल कणों की काफी अधिक मात्रा मौजूद रहती है। प्रयोगों में यह पाया गया कि उत्तर भारत के वायुमंडल के एक वर्ग मील क्षेत्र में औसतन 5.5 टन बारीक धूल कण छितराए रहते हैं।

मोनेक्स कार्यक्रम में पृथ्वी की ओर आने वाले सौर विकिरणों तथा पृथ्वी से परावर्तित होने वाले विकिरणों के बीच के संतुलन के बारे में अनेक नई जानकारीयां प्राप्त हुईं। इनके अनुसार भारत में पश्चिमी तट पर मानसून पवनों की प्रबलता और दक्षिणी गोलार्द्ध में मैस्कारनेज उच्च दाब की घट-बढ़ के बीच घनिष्ठ संबंध है। जब मैस्कारनेज उच्च में वृद्धि हो जाती है तब बंगाल की खाड़ी में दाब कम हो जाता है तथा मध्य भारत में मानसून अधिक सक्रिय हो जाता है। मैस्कारने क्षेत्र में दाब कम हो जाने से भारतीय मानसून कमजोर पड़ने लगता है।

मौसम का अवलोकन और भविष्यवाणी

मौसम हमारे साथ उस समय से है जब एप से आदिमानव विकसित हुआ था और उस समय तक साथ रहेगा जब तक पृथ्वी पर मानव का अस्तित्व रहेगा। मौसम से मनुष्य को कभी भी, कहीं भी, छुटकारा नहीं मिल सकता। इसलिए मनुष्य आदिकाल से ही आने वाले मौसम के बारे में अटकलें लगता रहा है।

आदिमानव के लिए शिकार करने हेतु आने वाले मौसम का पूर्वानुमान लगाना जरूरी होता था। यह उसके लिए एक सरल कार्य था। पर आज मनुष्य के इतनी प्रगति कर लेने के बावजूद भी, वह एक अत्यंत दुरुह कार्य समझा जाता है, जिसके परिणाम कभी-कभी ही सही निकलते हैं। आज विश्व के सर्वश्रेष्ठ कंप्यूटरों और अनेक किस्म के उपकरणों को इस्तेमाल करने के बाद भी मौसम के बारे में पूर्वसूचनाओं के गलत निकलने की बहुत संभावना रहती है। आने वाले मौसम का सही अनुमान लगाना बहुत टेढ़ी खीर है। अनुमान के अनेक बार गलत प्रमाणित हो जाने की पृष्ठभूमि में मौसम को नियंत्रित करने वाले कारकों – जिनमें से अनेक अब भी अज्ञात हैं – के बीच होने वाली अत्यंत जटिल अंतःक्रियाओं के बारे में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध न होना है।

फिर भी आने वाले मौसम का पूर्वानुमान लगाने के प्रयास आदिकाल से ही किए जाते रहे हैं। ये प्रयास हर देश में किए जाते रहे हैं। इन में हमारा देश भी शामिल था। यद्यपि इन प्रयासों के परिणाम अधिकांशतः सही नहीं उतरते थे पर कभी-कभी सफलता भी हाथ लग जाती थी। इन सफलताओं में कुछ लोगो की अद्भुत प्रेक्षण क्षमता और उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने के गुण के साथ भाग्य का भी हाथ रहता था। वैसे उनका यह निष्कर्ष सही था कि “कल के मौसम की झलक आज मिल जाती है।”

मौसम के पूर्वानुमान लगाने के प्रयासों को वैज्ञानिक आधार पर प्रदान करने वाले कदाचित् प्रथम पाश्चात्य विद्वान थे अरस्तू (384 से 322 ईसा पूर्व)। वैसे कहा जाता है कि उनसे पहले भी ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में यूनान के निवासी मौसम को नियंत्रित करने वाले प्राकृतिक नियमों का अध्ययन करने के प्रयास करते थे। वे हवा की बहने की दर और दिशा तथा अन्य मौसम संबंधी तथ्यों का अवलोकन करके उन्हें सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत भी करते थे।

अरस्तू ने अपने ग्रंथ *मेटिओरोलॉजिका* में लिखा था “संपूर्ण थल चार कार्यों – अग्नि, वायु, जल, और पृथ्वी – से निर्मित है और इनको एक-दूसरे में परिवर्तित करने का कार्य करता है सूर्य। उन्होंने बादलों के गरजने की भी व्याख्या की थी। उनका मत था कि “जब बादल ठंडा हो जाता है और उससे वर्षा होती है तब उसमें से वायु बहुत बलपूर्वक निकलती है और वह आसपास के बादलों

से टकराती है। उसके टकराने से जो आवाज निकलती है वह ही मेघ गर्जन है।" बिजली (तड़ित) के चमकने के कारण को समझाते हुए वे लिखते हैं कि "बादलों से निष्कासित होने वाली हवा एक स्पष्ट और धीमी लौ के साथ जलती है और इस लौ को ही हम "बिजली का चमकना" कहते हैं।"

वैज्ञानिक सिद्धांत

प्राचीन युग में, और बहुत कुछ मध्य युग तक भी, मौसम की पूर्वसूचना के लिए लोग संतों और ओझाओं से पूछते रहते थे। इसका कारण मौसम को नियंत्रित करने वाले कारकों तथा उनकी पारस्परिक क्रियाओं के बारे में, जानकारी का अभाव था। आधुनिक युग के आरंभ में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति हो जाने पर ही लोगों को यह समझ में आया कि उक्त कारक और क्रियाएं भी भौतिकी और रसायनशास्त्र के सिद्धांतों और नियमों का पालन करती हैं। उन्हें समझने और उनके बारे में पूर्वानुमान लगाने के लिए इन सिद्धांतों और नियमों को समझना जरूरी है। उनके बिना न तो मौसम को नियंत्रित (प्रभावित) करने वाले कारकों के गुणधर्मों और गतिविधियों को समझा जा सकता है, न ही मौसम का समुचित तरीके से अवलोकन किया जा सकता है और न ही मौसम का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। साथ ही मौसम के समुचित प्रेक्षण के बिना कोई पूर्वानुमान संभव नहीं है।

मौसम को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों की गतिविधियों के प्रेक्षण के लिए वैज्ञानिक उपकरणों और यंत्रों का उपयोग जरूरी है। इस संदर्भ में प्रथम कदम था वर्ष 1643 में टॉरीसिली द्वारा वायुदाबमापी (बैरोमीटर) का आविष्कार। पुनः जागरण के उस युग में शीघ्र ही वैज्ञानिकों ने यह ज्ञात कर लिया था कि वायु दाब और आने वाले मौसम में घनिष्ठ संबंध होता है। वायु दाब के एकाएक कम हो जाने को 'आने वाले तूफान का सूचक' माना जाने लगा और उच्च वायु दाब को सुखद मौसम का। इसलिए शीघ्र ही बैरोमीटर का नाम "मौसम का भविष्यवक्ता" पड़ गया।

टॉरीसिली द्वारा कांच की नली और पारे से भरी एक बेसिन की मदद से बैरोमीटर का निमाण करने के 43 वर्ष पूर्व, सन् 1600 में उनके गुरु, गैलिलियो, अपना थर्मास्कोप (थर्मामीटर) बना चुके थे और वायुमंडल में उपस्थित नमी की यात्रा ज्ञात करने के लिए 15वीं शताब्दी के अंत में हाइग्रोस्कोप का आविष्कार हो चुका था। यह हाइग्रोस्कोप काफी कूड पर प्रभावी था।

सत्रहवीं शताब्दी के अंत में इंग्लैंड में राबर्ट हुक ने हाइग्रोस्कोप और वर्षामापक यंत्र (रेनगॉज) के परिशुद्ध संस्करण विकसित किए। ये उपकरण मौसम को नियंत्रित करने वाले कारकों को मापने के लिए उपयोगी सिद्ध हुए।

मौसम संबंधी ज्ञान में बढ़ोत्तरी करने और उपयोगी उपकरणों का आविष्कार करने में इनके अतिरिक्त भी अनेक व्यक्तियों ने सहयोग दिया था। इन व्यक्तियों में केवल वैज्ञानिक और खगोलशास्त्री ही नहीं वरन् समुद्री कैप्टन, स्कूल शिक्षक, धर्मगुरु, ग्लास ब्लोअर और यहां तक कि कूटनीतिज्ञ भी शामिल थे। एक ओर गैलिलियो, टाइको ब्राहे, जेरेमिआ होरोक्स, योहानेस केपलर, एंड्रमंड हैली जैसे खगोलशास्त्री और न्यूटन, राबर्ट बॉयल, जैक चार्ल्स, जोसेफ जे. लुसाक, जेम्स जूल, हेमहोल्ट्ज, इरविंग लैंगम्यूर और न्यूमैन जैसे गणितज्ञों ने मौसम की गतिविधियों के रहस्योद्घाटन में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से महत्वपूर्ण योग दिया वहां दूसरी ओर बेंजामिन फ्रैंकलिन जैसे कूटनीतिज्ञों और कैप्टन विलियम डैम्पियर जैसे नाविकों ने भी बहुत दिलचस्पी दिखायी और उल्लेखनीय प्रेक्षण तथा प्रयोग

किए। वैसे मौसम को प्रभावित करने वाले कारकों में रुचि लेने वालों और सराहनीय योग देने वाले व्यक्तियों की सूची बहुत लंबी है जिनमें अनेक देशों के राष्ट्राध्यक्ष, मुख्य न्यायाधीश, सेनापति और राजनीतिज्ञ भी शामिल हैं।

मौसम की गतिविधियों को समझने के लिए भौतिकी के सिद्धांतों का उपयोग करने वाले व्यक्तियों में कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण थे एडमंड हैली। ये वे ही हैली थे जिन्होंने उस पुच्छल तारे (धूमकेतु) की खोज की थी जिसका नामकरण, बाद में "हैली धूमकेतु" हुआ और जो हर 86 वर्ष बाद पृथ्वी के निकट आकर लोगों के दिलों में तरह-तरह की (झूठी) आशंकाएं उत्पन्न कर देता है। हैली 1720 से लेकर 1742 तक ब्रिटेन के शाही खगोलशास्त्री थे। व्यक्तिगत जीवन में वे न्यूटन के दोस्त थे। कहा जाता है कि इन्होंने ही न्यूटन को उनके ग्रंथ 'प्रिंसीपिया' को प्रकाशित कराने हेतु आर्थिक मदद दी थी।

हैली द्वारा निकाले गए निष्कर्ष अंशतः उनके दो वर्ष तक सेंट हेलिना में आवास के दौरान किए गए अवलोकनों के परिणामों पर और अंशतः अकसर ही विश्व यात्राएं करने वाले नाविकों के अनुभवों पर आधारित थे। उनका यह निष्कर्ष कि "व्यापारी हवाएं भूमध्यरेखिक क्षेत्र की वायु पर सूर्य के प्रभावस्वरूप उत्पन्न होती हैं" आधुनिक ज्ञान के अनुसार भी एकदम सही है।

व्यापारी हवाओं के मार्ग में संशोधन का सही कारण तो सबसे पहले वर्ष 1735 में, हैली के लगभग 50 वर्ष बाद, लंदन के एक वकील और दार्शनिक जार्ज हैडले ने प्रस्तुत किया। उन्होंने सुझाया था कि पृथ्वी की अपनी धुरी पर घूमने की गति अन्य क्षेत्रों की बजाय भूमध्यरेखा पर अधिक होती है। इसलिए भूमध्यरेखा की ओर आने वाली हवाएं पृथ्वी के घूमने के संदर्भ में कुछ पिछड़ जाती हैं।

हैडले का तर्क उस वर्तमान सिद्धांत के काफी निकट था, जो व्यापारी हवाओं के मार्ग के विचलन का कारण कोरिओलिस बल को मानता है।

बीसवीं सदी के आरंभ होने तक विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने बहुत प्रगति कर ली थी। प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने वाले अनेक सिद्धांत खोज लिए गए थे और ऐसी अनेक युक्तियों का आविष्कार हो चुका था जिनकी मदद से प्राकृतिक घटनाओं को प्रयोगशाला में "दुहराया" जा सकता था और सिद्धांतों को परखा जा सकता था। अब मौसम संबंधी आंकड़ों को अधिक शुद्धता के साथ प्राप्त किया जा सकता था। इसलिए मौसमवैज्ञानिक सिद्धांत और उनके व्यावहारिक पहलुओं का भी आपस में संयोजन होने लगा। इस संयोजन का शुभारंभ हुआ नार्वे भूभौतिक संस्थान, बरजन, के विल्हेल्म बयेर्कनेज (Vilhelm Bjerknes) के नेतृत्व में। वर्ष 1904 में बयेर्कनेज ने पहली बार सुझाया था "दैनिक मौसम की पूर्वसूचना को सैद्धांतिक अनुमान की परिधि से बाहर निकालकर यथार्थ विज्ञान में परिवर्तित कर देना चाहिए।"

बयेर्कनेज की पद्धति के अनुसार आने वाले मौसम का अनुमान लगाने के लिए पहले अत्यंत विस्तृत पैमाने पर वायु के ताप, दाब, आर्द्रता, वेग आदि संबंधी आंकड़े प्राप्त करने चाहिए; उन आंकड़ों की मदद से वर्तमान मौसम-मानचित्र तैयार किए जाने चाहिए और फिर इन मानचित्रों को आधार मानकर गणितीय समीकरणों की मदद से आने वाले मौसम का अनुमान लगाना चाहिए। यद्यपि बयेर्कनेज आने वाले मौसम का एकदम सही अनुमान लगाने में पूर्ण रूप से सफल नहीं हुए परंतु उनके प्रयासों के प्रत्यक्ष और परोक्ष परिणामस्वरूप नार्वे में मौसम सेवा भलीभांति आयोजित हो गई। साथ ही वे यह

प्रमाणित करने में भी सफल हुए कि वायु राशियों और चक्रवातों के बीच स्पष्ट संबंध होता है। यह संबंध, जिसकी खोज करने में बयेर्कनेज के पुत्र जैकल का भी बहुत योग था, बाद में "ध्रुवीय वाताग्र सिद्धांत" (पोलर फ्रंट थ्योरी) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बयेर्कनेज एक ऐसी मौसमवैज्ञानिक संस्था भी स्थापित करने में सफल हुए जो कार्लगुस्ताफ रॉसनी और टोर बरजेरॉन जैसे विद्वानों को आकर्षित कर सकी।

कहा जाता है कि बयेर्कनेज के पास "मौसम का सही पूर्वानुमान लगाने हेतु सही सूत्र थे, सही आंकड़े थे और सही विचार थे, पर उनके पास वह (गणितीय) तकनीक नहीं थी जिससे अत्यंत विशाल परिकलनों (कैलकुलेशन) को पलक झपकते हल किया जा सके।"

बयेर्कनेज की समस्या कितनी जटिल थी इसका कुछ आभास ब्रिटिश गणितज्ञ लेविस फ्राई रिचर्डसन ने 1922 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *वैदर प्रिडिक्शन बाई न्यूमेरिकल प्रोसेस* में दिलाया है। यह पुस्तक, जिसकी पाण्डुलिपि रिचर्डसन ने प्रथम विश्व युद्ध के दिनों में ट्रक चलाने के दौरान तैयार की थी, स्वयं में अत्यंत विलक्षण और अनूठी है। इसके अनुसार "सांख्यिकिक विधि से मौसम संबंधी समस्याएं वास्तव में हल की जा सकती हैं।" जहां तक मौसम के सही पूर्वानुमान लगाने का प्रश्न है, उसके लिए रिचर्डसन के अनुसार हमें विश्व भर में फैले 2000 ऐसे केंद्रों से, जो धरती की सतह और ऊपरी वायुमंडल में मौसम संबंधी माप लेने हेतु पूर्ण रूप से सुसज्जित हों, निरंतर आंकड़े प्राप्त होते रहने चाहिए। ये आंकड़े इतने अधिक और इतने जटिल होंगे कि इनको उपचारित करने हेतु 64000 गणितज्ञों को रात-दिन लगातार, वर्ष में 365 दिन, कार्य करना पड़ेगा।

स्वयं रिचर्डसन जानते थे कि इतना सब होना एकदम असंभव है। इसीलिए उन्होंने लिखा था "शायद कभी सुदूर भविष्य में ऐसा संभव हो सके।" पर यह "सुदूर भविष्य" अगले 25 वर्षों की अल्प अवधि में ही आ गया।

1940 के दशक में जब डा. जॉन डॉन न्यूमैन एक गणितीय विश्लेषण और संख्यात्मक समाकलित्र (कम्प्यूटर) का डिजाइन तैयार कर रहे थे तब मौसमवैज्ञानिकों ने उनसे अनुरोध किया कि वे उसे मौसम की पूर्वसूचना देने के लिए डिजाइन करें। न्यूमैन को उनका सुझाव पसंद आया और 1946 में "मैनिऑक" (मैथेमेटिकल एनालाइजर न्यूमेरिकल इंटीग्रेटर एण्ड कम्प्यूटर) का निर्माण हुआ। अब मौसम संबंधी आंकड़े गणितीय समीकरणों में बदले जा सकते हैं। मैनिऑक ने वर्ष 1950 में पहली बार मौसम की सही पूर्वसूचना दी, यद्यपि उसके बाद हमेशा सफलता हाथ नहीं लगी। इसका कारण यह था कि (कम्प्यूटर द्वारा लगाया गया) पूर्वानुमान उतना ही सही होगा जितने सही उसको दिए जाने वाले समीकरण होंगे।

मौसम संबंधी परिकलन करने हेतु कम्प्यूटर का एक बार जो उपयोग आरंभ हुआ, वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। वर्तमान पीढ़ी के लिए यह कल्पना करना भी मुश्किल होता है कि कभी कम्प्यूटर के बिना भी मौसम संबंधी परिकलन किए जाते थे। आज लगभग हर देश में बड़े से बड़े कम्प्यूटर (सुपर कम्प्यूटर) मौसम संबंधी कार्य में लगे हुए हैं। आज एक सुपर कम्प्यूटर 10,000 से भी अधिक गणितज्ञों के बराबर कार्य कर सकता है।

वैज्ञानिक युक्तियां

थर्मामीटर, बैरोमीटर, हाइग्रोस्कोप आदि उपकरणों से आविष्कार के बाद मौसम संबंधी आंकड़े - वायु

का ताप, दाब, बहाव दिशा और गति, वर्षा की मात्रा आदि आंकड़े नियमित रूप से प्राप्त किए जाने लगे। इन उपकरणों का आविष्कार पश्चिमी देशों में हुआ था। अतः मौसम संबंधी मापन कार्य भी वहीं आरंभ हुए।

आरंभ में ये माप धरती की सतह पर लिए जाते थे। धरती की सतह से कुछ ऊपर बहने वाली वायु के माप लेने हेतु उक्त उपकरणों को ऊंची अट्टालिकाओं की छतों पर ले जाया जाता था। पर वैज्ञानिक तो मुक्त आकाश में विचरण करने वाली हवाएं के ताप, दाब, उसमें उपस्थित जलवाष्प की मात्रा, उसके बहने की गति आदि के माप प्राप्त करना चाहते थे। इसलिए यह सोचा गया कि क्यों न थर्मामीटर, बैरोमीटर जैसे उपकरणों को गुब्बारों में रखकर उड़ाया जाए।

गुब्बारे : मौसम संबंधी आंकड़े प्राप्त करने में गुब्बारों के उपयोग के बारे में अग्रणी कार्य किया पास्कल और पेरिएर ने। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, वर्ष 1648 में, पहली बार वे बैरोमीटर को पहाड़ की चोटी पर ले गए। ऐसा करने के पीछे उनका उद्देश्य यह दर्शाना था कि ऊंचाई के साथ वायु दाब कम होता जाता है और ऊंचाई के साथ हवा के अन्य गुणधर्मों में भी परिवर्तन होने लगते हैं। किन्तु वे अपनी युक्तियों को पर्वतों पर ले जाने अथवा उन्हें पतंगों के साथ उड़ाने के अतिरिक्त उन्हें पर्याप्त ऊंचाई तक न ले जा सकें।

इस संबंध में महत्वपूर्ण प्रगति हुई 1783 में। उस वर्ष मांटगोल्फियर बंधुओं ने गर्म वायु से उड़ने वाले गुब्बारे का आविष्कार किया। उसी वर्ष, अक्टूबर में, जैक चार्ल्स एक ऐसे ही गुब्बारे में उड़ान भरने के दौरान अपने साथ बैरोमीटर भी ले गए। उनका उद्देश्य अपनी उड़ान ऊंचाई का अनुमान लगाना था। इसीलिए कुछ लोग उनकी इस उड़ान के उद्देश्य को मौसमवैज्ञानिक न मानकर वैमानिक मानते हैं। यहां यह बताना युक्तिसंगत होगा कि ये ही वे चार्ल्स थे जिन्होंने बाद में गैसों के ताप और आयतन में संबंध दर्शाने वाला प्रसिद्ध "चार्ल्स नियम" प्रतिपादित किया था।

चार्ल्स की उड़ान के दो वर्ष बाद चिकित्सक डा. जॉन जेफ्रीज ने जां पेरी ब्लैनचार्ड के साथ गुब्बारे में उड़कर सर्वप्रथम इंग्लिश चैनल पार करने का सफल प्रयास किया। अपनी इस ऐतिहासिक उड़ान के दौरान वे अपने साथ थर्मामीटर, बैरोमीटर, आर्द्रतामापी आदि युक्तियां भी ले गए थे। इन युक्तियों से उन्होंने 2743 मीटर की ऊंचाई पर वायु के ताप और दाब नापे तथा नमी की मात्रा ज्ञात की। यह उड़ान एक अन्य तरीके से भी ऐतिहासिक उड़ान मानी जाती है क्योंकि उनका गुब्बारा लीक कर रहा था और उसका वजन कम करने के लिए दोनों यात्रियों को अंडरवीयर छोड़कर अपने सब कपड़े तक उतार देने पड़े थे।

सन् 1804 में, गे लुसाक ने गुब्बारों में उड़ानें भरकर लगभग 4000 मीटर ऊंचाई तक मुक्त वायुमंडल में वायु के ताप और दाब मापने में सफलता प्राप्त की।

उसके बाद तो ऊपरी वायुमंडल के अवलोकन हेतु वैज्ञानिकों द्वारा गुब्बारों में उड़ानें भरने का सिलसिला चल पड़ा। इनमें कुछ उड़ानें बहुत विलक्षण थीं। इन विलक्षण उड़ानों में ब्रिटिश मौसमवैज्ञानिक जेम्स ग्लैशर की उड़ानों का जिक्र जरूरी है। ग्लैशर ने 1862 से 1866 तक 29 उड़ानें भरी थीं जिनमें से अधिकांश में कॉक्सवेल, पायलट के रूप में, उनके साथ थे। ये उड़ानें ब्रिटिश एसोसियेशन के अनुरोध पर भरी गई थीं। इनमें कदाचित् सबसे प्रसिद्ध उड़ान थी 5 सितंबर 1862 की। इसमें ग्लैशर और काक्सवेल 8840 मीटर की ऊंचाई तक पहुंच गए थे। पर वहां पहुंचने पर आक्सीजन

की कमी के कारण ग्लेशेर बेहोश हो गए थे और कॉक्सवैल के हाथ-पैर इतने सुन्न हो गए थे कि वे नियंत्रण वातव को मुश्किल से अपने दांतों से, खोल पाए थे। भाग्यवश दोनों जीवित वापस धरती पर आ गए।

उसके बाद उच्च वायुमंडल में ताप, दाब, उसमें जलवाष्प की मात्रा आदि को ज्ञात करने के लिए उपकरणों को नियमित रूप से गुब्बारों में ऊपर उड़ाया जाने लगा। बाद में एक नई युक्ति, मीटैरिओग्राफ, जो इन सब उपकरणों के कार्य कर सकती थी, को गुब्बारों में उड़ाया जाने लगा। वांछित ऊंचाई पर पहुंचकर उपकरण अपने आप सब आवश्यक माप लेते और गुब्बारे के फटने पर धरती पर गिर पड़ते थे। अनेक बार ये ऐसे स्थानों पर भी गिरते थे कि उन्हें ढूँढ़ निकालना मुश्किल हो जाता था।

ऊपरी वायुमंडल में पवनों के बहने की दिशा और गति मापने के लिए उड़ते हुए गुब्बारे की टोह थियोडोलाइटों से भी ली जाती थी। इस प्रकार के गुब्बारे “पायलट गुब्बारे” कहलाते थे।

रेडियो तरंगों की खोज और इलेक्ट्रानिक उपकरणों के आविष्कार हो जाने के बाद गुब्बारों में इलेक्ट्रानिक सेंसर रखे जाने लगे। ये सेंसर नियमित रूप से संकेत भेजते रहते हैं जिन्हें भूकेंद्रों में उपयुक्त यंत्रों द्वारा ग्रहण और अकूटित किया जाता है। इन सेंसरों की मदद से ऊपरी वायुमंडल के न केवल ताप, दाब आदि ज्ञात किए जा सकते हैं वरन् आक्सीजन, कार्बन डाइआक्साइड, ओजोन आदि घटकों की मात्राएं भी मालूम की जा सकती हैं। इस प्रकार के गुब्बारों को रेडियोसॉडे, ओजोनसॉडे आदि कहते हैं।

रडार : रडार का आविष्कार हो जाने पर उक्त गुब्बारों की टोह उससे ली जाने लगी। अब यह कार्य रात में उस समय भी किया जा सकता है जब आकाश में बादल या धूल छाई होती है। आजकल गुब्बारों को “मुक्त तिरते प्लेटफार्म” के रूप में इस्तेमाल किया जाता है और इन्हें वायुमंडल में किसी भी पूर्वनिश्चित स्तर पर स्थिर रखा जा सकता है। इन गुब्बारों में रखे स्वचालित उपकरण निरंतर विभिन्न माप लेते रहते हैं और भूकेन्द्र में रखे यंत्र इन मापों को ग्रहण कर अकूटित करते रहते हैं।

मौसम बताने वाले अनेक घटकों के प्रेक्षण के लिए तथा वायुमंडल का क्रमवीक्षण करने के लिए रडार एक बहुत उपयोगी युक्ति है। उच्च वायुमंडल में पवनों की गतिविधि ज्ञात करने हेतु किसी टार्गेट पर निगाह रखने के अतिरिक्त रडार का उपयोग बादलों तथा चक्रवातों के अवलोकन के लिए भी किया जाता है। वास्तव में आजकल रडार का उपयोग इन्हीं कामों के लिए अधिक किया जाने लगा है। सागर के तट पर स्थापित रडार आने वाले चक्रवातों की टोह काफी दूर से ले लेते हैं। वे उनके आगमन के संकेत काफी समय रहते ही देने लगते हैं।

जैसा कि आप जानते हैं रडार रेडियो तरंगें उत्पन्न करके वायुमंडल में, चारों ओर, भेजता है और तरंगों के विभिन्न कारकों — बादल, तड़ित् झंझा, धूल भरी आंधी, टोरनेडो आदि — से टकराकर लौटने वाली गूँज (परावर्तित तरंगों) की प्रकृति से वह उस वस्तु के बारे में “संकेत” प्रदर्शित करने लगता है। रडार की मदद से बादल, चक्रवात, आंधी आदि की गति, उनकी दूरी, उनसे होने वाली वर्षा आदि के अनुमान भी लगाए जा सकते हैं।

मौसम की सूचना देने वाले रडार के लिए पहले एक बड़ी समस्या थी उपयुक्त रेडियो आवृत्ति का चयन। यदि वे लघु तरंग दैर्घ्यों की आवृत्ति का इस्तेमाल करते थे तब वर्षा और बादलों द्वारा परावर्तित

तरंगें अत्यधिक क्षीण हो जाती थीं। उनकी मदद से स्पष्ट संकेत प्रदर्शित नहीं हो पाते थे। पर दीर्घ तरंग दैर्घ्य की आवृत्ति से बादलों की सही स्थिति ज्ञात नहीं हो पाती थी। इसलिए मौसम के विभिन्न घटकों की सूचना प्राप्त करने हेतु आजकल रडार में 3 से 10 सेमी. तरंग दैर्घ्य वाली (एक्स, सी और एस बैंड) की तरंगें इस्तेमाल की जाती हैं। तडित् झंझाओं की टोह के लिए 3 सेमी. की तरंगें बहुत उपयुक्त होती हैं जबकि चक्रवातों के लिए 10 सेमी. तरंगदैर्घ्य की। बादलों की सूक्ष्म संरचना का ज्ञान प्राप्त करने के लिए लेज़र रडार (लिडर) का उपयोग किया जाता है।

यद्यपि आने वाले मौसम की टोह लेने के लिए रडार बहुत उपयोगी यंत्र है परंतु कभी-कभी उसके द्वारा प्रदर्शित संकेत हमें गुमराह भी कर देते हैं। इसका एक बड़ा कारण है पृथ्वी की वक्रता। पृथ्वी की वक्रता के कारण काफी दूर स्थित तडित् झंझाओं और वर्षा के बारे में सही संकेत प्राप्त नहीं हो पाते। साथ ही कई बार केंद्र के एकदम निकट स्थित किसी बड़े तडित् झंझा के बारे में भी तरंगों के अत्यंत क्षीण पड़ जाने के कारण रडार कोई संकेत नहीं देता। इनके अतिरिक्त रडार में उड़ते पक्षियों के झुंड आदि भी संकेत भेजने लगते हैं।

साधारण रडार के स्क्रीन पर टोरनेडो का बिम्ब आमतौर से एक स्पष्ट हुक की आकृति में उभरता है। यह हुक बादलों के कुंडली की आकृति ग्रहण करने के फलस्वरूप बनता है और भारी वर्षा या ओलों के आगमन का द्योतक होता है। परंतु सभी टोरनेडों के लक्षण एक जैसे नहीं होते हैं, हर टोरनेडो की अपनी विलक्षणता होती है। इसलिए सदैव सामान्य रडार से टोरनेडो के आगमन की सही सूचना नहीं दी जा सकती।

टोरनेडो का पूर्व संकेत प्राप्त करने के लिए आमतौर से एक विशेष किस्म के रडार, डप्लर रडार, का उपयोग किया जाता है। यह रडार "सुरक्षित दूरी" से टोरनेडो की आंधी का वेग माप सकता है। इस माप से टोरनेडो की उत्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

मौसमवैज्ञानिक हर नए आविष्कार या खोज को अपने अन्वेषण में प्रयुक्त करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। इसीलिए वायुयान का आविष्कार हो जाने पर ये उसे भी इस्तेमाल करने लगे। उसमें स्वचालित उपकरणों को ऊपरी वायुमंडल में भेजा जाने लगा। पर जब उन्हें यह अनुभव होने लगा कि वायुयान की उड़ान भरने की भी एक सीमा होती है जिसके ऊपर वह नहीं जा सकता, अतएव उन्होंने राकेटों और कृत्रिम उपग्रहों का उपयोग आरंभ कर दिया।

चक्रवात आदि सागरों पर ही जन्म लेते हैं। इसलिए रडार जैसे यंत्र जल जहाजों पर फिट कर दिए जाते हैं। ये यंत्र तट पर स्थित मौसम केंद्रों को सूचनाएं भेजते रहते हैं।

आई.जी.वाई. के दौरान यह ज्ञात हुआ कि उच्च वायुमंडल के योजनाबद्ध अध्ययन के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रथम प्रयास किए गए अंतर्राष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष (इंटरनेशनल जिओफिजिकल ईयर - आई.जी.वाई.) के दौरान 'वर्ष' 1957-58 में, ग्यारह वर्षीय सौर भूभूके चक्र के सर्वाधिक सक्रिय दौर में आयोजित किया गया था। इसका कारण था वैज्ञानिकों का यह अनुमान कि सूर्य का मौसम भी पृथ्वी को अत्यधिक प्रभावित करता है। आई.जी.वाई. के दौरान किए गए अध्ययनों से उनका अनुमान सही निकला। पृथ्वी की सतह से लगभग 30 से 200 किमी. ऊंचाई तक ऐसा क्षेत्र है जिसे कुछ वैज्ञानिक "अज्ञानतामंडल" (इग्नोरोस्फीयर) कहते हैं। इस क्षेत्र में ओजोन की परतें हैं, पराबैंगनी किरणें हैं, उल्काओं की धूल है, रहस्यमय प्रदीप्त मेघ हैं और अत्यंत निम्न ताप है। इसमें

ऊपरी समतापमंडल, मध्यमंडल और निचला बाह्य वायुमंडल शामिल हैं। यह क्षेत्र वायुयान और गुब्बारों के लिए बहुत ऊंचा है और उपग्रहों के लिए बहुत नीचा। इसके अध्ययन हेतु मौसमवैज्ञानिक परिज्ञापन राकेटों (साउंडिंग राकेट) का उपयोग करते हैं। इस क्षेत्र में अध्ययन के प्रयत्न भारतीय अंतरिक्ष वैज्ञानिकों ने भी किए हैं। उन्होंने भी तिरुअनंतपुरम के निकट स्थित घुम्बा राकेट केंद्र (विक्रम साराभाई अंतरिक्ष केंद्र) से परिज्ञापन राकेट प्रक्षेपित किए थे।

आई. जी. वाई. के पूरक के रूप में 1964-65 में अंतर्राष्ट्रीय शांत सूर्य वर्ष (इंटरनेशनल ईयर ऑफ़ क्वायट सन) आयोजित किया गया। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है इस दौरान सूर्य की क्रियाशीलता काफी "मंद" थी।

मौसम को नियंत्रित और प्रभावित करने वाले कारकों में सूर्य का स्थान सर्वोपरि है। आज मौसमवैज्ञानिक यह मानते हैं कि हम सूर्य और अंतरिक्ष के मौसम के बारे में जितनी जल्दी और जितनी अधिक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे उतनी तेजी से हम धरती के मौसम को भी समझ सकेंगे।

किसी भी समय बिना किसी पूर्व-संकेत के सूर्य से एक अत्यंत विशाल भूकूपा फूट पड़ता है। यह भूकूपा 80,500 किमी. से भी अधिक लंबी 'अग्निमय जीभ' के रूप में अंतरिक्ष में लपलपाने लगता है। उस भयावह जीभ का पृथ्वी पर तात्कालिक प्रभाव होता है — लघु तरंग रेडियो संचार का एकदम रुक जाना और उच्च ऊर्जावान कणों के प्रवाह का पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश कर जाना। उसके एक-दो दिन बाद अन्य आयनित कण भी पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश कर जाते हैं जिनसे चुम्बकीय तूफान आ जाते हैं और ध्रुवीय ज्योति कम्पन करने लगती है।

इस बारे में सबसे विचित्र बात यह होती है कि सौर भूकूपा उसी भांति एकदम समाप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार वे आरंभ हुए थे, बिना पूर्व संकेत के।

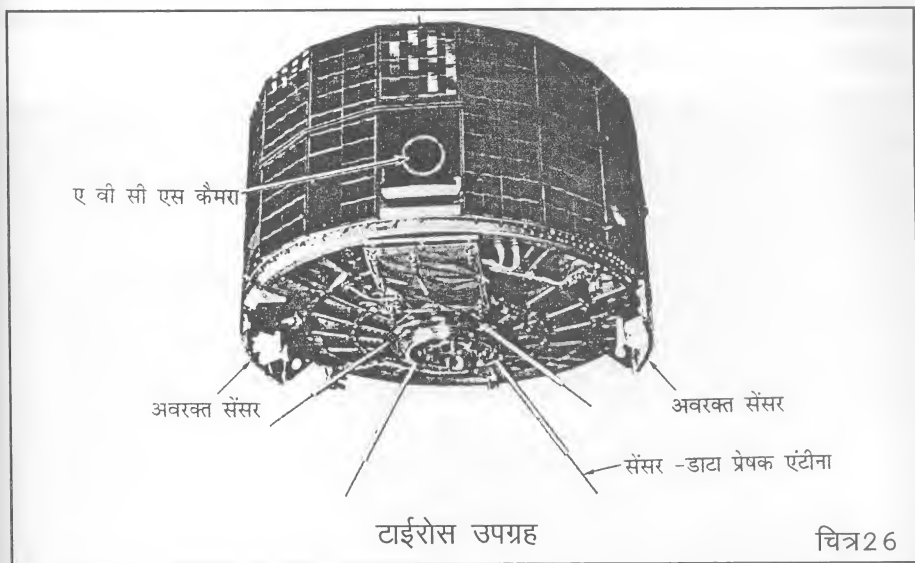
ये भयावह सौर भूकूपा पृथ्वी के निरंतर परिवर्तनशील मौसम को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, यह जानने के लिए पृथ्वी के अनेक केंद्रों से जिनमें कुछ सुदूर उत्तर में स्थित हैं तो कुछ सुदूर दक्षिण में, निरंतर विशेष राकेट छोड़े जाते हैं। इन राकेटों में गाइगर काउंटर, आयनीकरण कक्ष, कणों के नमूने लेने के लिए स्वचालित यंत्र आदि लगे होते हैं।

आई. जी. वाई. का एक अन्य ऐतिहासिक महत्व भी है। इसी दौरान सोवियत रूस ने विश्व का प्रथम कृत्रिम उपग्रह "स्पुतनिक" प्रक्षेपित करके "अंतरिक्ष युग" का शुभारंभ किया था।

कृत्रिम उपग्रह : आज उपग्रह, विशेष रूप से मौसम उपग्रह, वैज्ञानिकों के पास मौसम की टोह लेने और उसकी चौकसी करने की सबसे शक्तिशाली और उपयुक्त युक्ति है। मौसम की निगरानी हेतु पूर्ण रूप से स्वचालित इलेक्ट्रानिक प्रणाली — मौसम उपग्रह — पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले ऐसे अंतरिक्ष केंद्र होते हैं जो पृथ्वी पर छाए बादलों के चित्र लेते रहते हैं, विभिन्न स्तरों पर वायुमंडल के ताप अंकित करते रहते हैं, क्षोभमंडल में जलवाष्प की मात्रा मापते रहते हैं और समताप मंडल में ओजोन की मात्रा ज्ञात करते रहते हैं।

यद्यपि पहला कृत्रिम उपग्रह सोवियत रूस ने वर्ष 1957 में प्रक्षेपित कर दिया था परंतु सबसे पहले मौसम उपग्रह को प्रक्षेपित करने का श्रेय संयुक्त राज्य अमेरिका को है। उसने "टेलीविजन इन्फ्रारेड आब्जरवेशन सेटलाइट" — (टी.आई.आर.ओ.एस.-टाइरोस) शृंखला का पहला उपग्रह 1960 में प्रक्षेपित किया था। प्रथम टाइरोस पृथ्वी से लगभग 725 किमी. ऊंचाई पर, लगभग हर 100 मिनट

में, पृथ्वी की एक परिक्रमा कर लेता था। उसमें लगे उपकरण वायुमंडल द्वारा सौर ऊर्जा का अवशोषण और परावर्तन करते थे तथा टेलीविजन कैमरे पृथ्वी के चित्र लेते रहते थे।



उसके बाद टाइरोस शृंखला के अन्य उपग्रहों ने वर्षा मेघों के चित्रों के साथ-साथ पृथ्वी के ऐसे क्षेत्रों के जहां पहुंचना कठिन होता है यथा मरुस्थल, ध्रुवीय प्रदेश, अंटार्कटिक आदि के चित्र भी प्रेषित किए। उन्होंने सागरों पर बन रहे हरीकेनों का भी "पता" लगाया और चित्रों सहित उनकी सूचना धरती पर बैठे वैज्ञानिकों को भेजी।

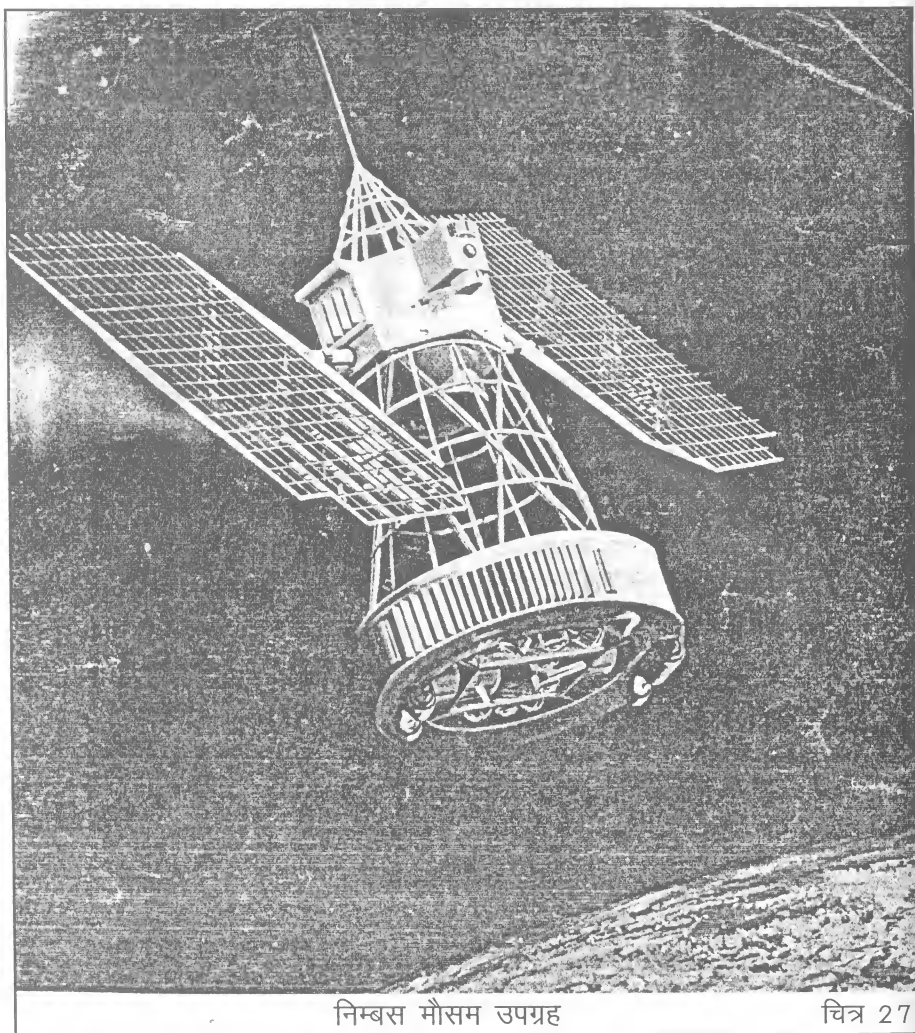
टाइरोस शृंखला के बाद 1964 में 'निंबस' शृंखला के मौसम उपग्रहों का प्रक्षेपण आरंभ हुआ। निंबस शृंखला के उपग्रह बेहतर उपकरणों से लैस थे। वे 98.3 मिनट में पृथ्वी की एक परिक्रमा कर लेते थे और 24 घंटे के अंदर पृथ्वी के हर क्षेत्र के मौसम की टोह लेते रहते थे तथा बादलों आदि के चित्र लगातार प्रेषित करते रहते थे। उनमें अवरक्त सेंसर लगे हुए थे जो रात के समय भी उसी प्रकार 'देख' सकते थे जैसे दिन में।

निंबस शृंखला में ऐसे मौसम उपग्रह भी प्रक्षेपित किए गए जिनमें टी.वी. कैमरों के स्थान पर रेडियोमीटर लगे हुए थे। वे दिन में कई बार उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के ऊपर से गुजरते थे तथा बादलों और वायुमंडल के ताप के बारे में इस प्रकार सूचनाएं प्रेषित करते थे - जिन्हें संसार के दो-तिहाई से भी अधिक देशों के छोटे मौसम केंद्र भी ग्रहण कर सकते थे।

इसके बाद 1966 में एंप्लीकेशनस टैक्नालॉजी सेटेलाइट (ए.टी.एस.) के युग का आरंभ हुआ। पृथ्वी से लगभग 35,850 किमी. ऊंचाई पर स्थापित ये उपग्रह 24 घंटे में पृथ्वी की एक परिक्रमा कर लेते थे। इसलिए ये पृथ्वी पर "एक ही स्थान पर स्थिर प्रतीत" होते थे। ये उसी गति से पृथ्वी की परिक्रमा करते थे जितनी गति से पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। इसलिए इन्हें "भूतुल्यकालिक उपग्रह" भी कहा जाता है।

ए.टी.एस. शृंखला के बाद तो भूतुल्यकालिक उपग्रहों का तांता ही लग गया। समुचित रूप से

स्थापित किए गए तीन भूतुल्यकालिक उपग्रह संपूर्ण पृथ्वी की निगरानी करने हेतु पर्याप्त होते हैं। अब ये उपग्रह केवल मौसम के बारे में ही जानकारीयां प्रेषित नहीं करते वरन् दूरसंचार और टेली उपग्रह का भी कार्य करते हैं। इनसे हमें हर समय, रात-दिन मौसम संबंधी जानकारीयां और चित्र प्राप्त होते रहते हैं। हमारे इन्सैट शृंखला के उपग्रह भी ऐसे ही उपग्रह हैं।



अगस्त 1983 में प्रक्षेपित हमारा भूतुल्यकालिक बहुउद्देशीय उपग्रह, इन्सैट-1 बी, 74° पूर्व देशांतर पर स्थापित किया गया था। जहां तक मौसम की जानकारीयां का प्रश्न है, यह निम्न सूचनाएं निरंतर प्रेषित करता रहता था :

मेघों के दृश्य और अवरक्त चित्र; चक्रवात जैसी मौसम प्रणालियों के प्रतिबिंब; सागर सतह और मेघों के ऊपरी भाग के ताप और मेघ अपवाह से उत्पन्न पवन

टेलीग्राफ : जॉन रस्किन अंग्रेजी भाषा के अत्यंत प्रसिद्ध *author* थे। उन्होंने अनेक विषयों पर विद्वत्पूर्ण लेख लिखे थे। उनकी टिप्पणियों और कटाक्षों को लोग आज भी याद करते हैं तथा समयानुकूल उनका उल्लेख भी करते रहते हैं। उन्होंने मौसमवैज्ञानिकों पर भी एक टिप्पणी की थी और आज भी वह एकदम सटीक उतरती है। उनके अनुसार “यदि मौसमवैज्ञानिक अकेला पड़ जाए तो वह किसी काम का नहीं रहता।” यह बात सही है कि यदि मौसम से संबंधित जानकारीयां अत्यंत शीघ्रता से प्रेषित नहीं की जातीं तो एकदम निरर्थक हो जाती हैं। उनका उपभोक्ताओं तक शीघ्रातिशीघ्र पहुंचना बहुत जरूरी होता है। इसीलिए उन्नीसवीं सदी में जब सेमुअल मोर्स ने टेलीग्राफ द्वारा संदेश शीघ्रता से भेजने के लिए एक कोड का आविष्कार किया तो मौसमवैज्ञानिकों ने अपनी सूचनाएं प्रेषित करने हेतु उसका उपयोग शीघ्र ही से आरंभ कर दिया। फिर भी ऐसा करने में कुछ देर हो गई और इस देर से काफी नुकसान भी हो गया। उस समय, सन् 1854 में, क्रीमिया युद्ध चल रहा था और 14 नवम्बर 1854 को आए भयंकर तूफान की पूर्वसूचना न मिल पाने के कारण उस युद्ध में रत इंग्लैंड और फ्रांस के विशाल जहाजी बेड़े लगभग पूर्ण रूप से नष्ट हो गए। यदि तूफान की पूर्वसूचना टेलीग्राफ द्वारा भेज दी जाती तो जहाजों को बचाया जा सकता था।

इस दुर्घटना से सबक लेकर फ्रांस ने युद्ध समाप्त होने के दो वर्ष बाद ही 1856 में मौसम संबंधी सूचनाओं के प्रेषण हेतु टेलीग्राफ का उपयोग आरंभ कर दिया। उसके बाद संसार के अन्य देशों ने भी टेलीग्राफ नेटवर्क स्थापित कर लिए। भारत में भी मौसम संबंधी सूचनाओं को प्रेषित करने हेतु टेलीग्राफ का उपयोग 1861 में ही आरंभ हो गया था।

बाद में दूरसंचार की अन्य बेहतर तकनीकें उपलब्ध हो जाने पर उनसे भी मौसम संबंधी सूचनाएं भेजी जाने लगीं। आजकल इस काम के लिए टेलीफोन, टेलीग्राफ, रेडियो, टेलीप्रिंटर, टेलीविजन, फैक्स आदि, सब उपलब्ध प्रसार सुविधाओं का, उपयोग किया जाता है। मौसम संबंधी सूचनाएं मात्रा में काफी होती हैं और उन्हें दिन में कई बार प्रेषित करना होता है। इसलिए उन्हें कूटित करके प्रेषित करना बेहतर होता है। यह कूट विश्व मौसम संगठन द्वारा पूर्व-निश्चित, सर्वमान्य और सार्वभौमिक कूट है। इसलिए इसके इस्तेमाल में कोई अड़चन नहीं आती। इससे सूचनाओं को शीघ्रता और सरलता से प्रेषित किया जा सकता है। आजकल चित्रों को भी आसानी से टेलीविजन, फैक्स आदि द्वारा प्रेषित किया जा सकता है। इसलिए बादल, वर्षा, हिमपात आदि के चित्र भी प्रेषित किए जाते हैं।

मौसम केंद्र

आज विश्व के हर देश के कोने-कोने में (देश की आर्थिक स्थिति और मौसम संबंधी आवश्यकताओं के अनुसार) मौसम केंद्र कार्यरत हैं जहां दिन-रात चौबीसों घंटे, वर्ष के 365 दिन, वायु के ताप, दाब, आर्द्रता, वर्षा, बादल, कोहरा आदि के माप लिए जाते हैं। ये माप विश्व मौसमविज्ञान संगठन के सार्वभौमिक नियम के अनुसार धरती के सतह के लिए हर तीन घंटे बाद और ऊपरी वायुमंडल के लिए हर छह घंटे बाद, लिए जाते हैं। हर देश में ऐसे केंद्र हमेशा ग्रीनविच समय के अनुसार ही माप लेते हैं।

जैसा कि आपको मालूम है भारतीय मानक समय इलाहाबाद ($82^{\circ}30'$ पूर्व देशांतर और $23^{\circ}1'$ उत्तर अक्षांश) के ऊपर सूर्य की स्थिति के अनुसार निर्धारित किया जाता है। वह ग्रीनविच

समय से 5 घंटे 30 मिनट आगे है। इस प्रकार जब ग्रीनविच में रात के ठीक बारह बजे होते हैं तब हमारे देश में सुबह के 5.30 बजते हैं। पूरे विश्व में मौसम संबंधी सब मापों को ठीक एक ही समय पर लिया जाना चाहिए। इसलिए किसी देश में वे सुबह लिए जाते हैं; किसी में दोपहर को, किसी में शाम को और किसी में रात के तीसरे पहर। परंतु इन्हें लिया अवश्य जाता है चाहे उस समय मूसलाधार वर्षा हो रही हो, भीषण चक्रवात आया हुआ हो अथवा भारी हिमपात हो रहा हो। उसमें कोई कोताही नहीं होती। इस प्रकार पिछले सौ वर्षों से भी अधिक समय से मौसमविज्ञान विभाग के हजारों-लाखों कर्मचारियों की निष्ठा और कर्तव्यपरायणता के फलस्वरूप संपूर्ण पृथ्वी की मौसम संबंधी जानकारीयां बहुत बड़ी मात्रा में एकत्रित हो रही हैं। इन जानकारीयों के विश्लेषण से मौसम के बारे में अनेक नए तथ्य ज्ञात हुए हैं और निरंतर होते जा रहे हैं। इन्हीं का विश्लेषण करके मौसम का पूर्वानुमान लगाने की कोशिश की जाती है।

इस कार्य में पृथ्वी के कोने-कोने में स्थापित 8,000 से भी अधिक थलीय केंद्र 4,000 से अधिक जल-जहाज और 3,000 वायुयान सदैव लगे रहते हैं। वे हर दिन धरती की सतह के 1,00,000 और ऊपरी वायुमंडल के 10,000 से अधिक प्रेक्षण करते हैं। इनके अतिरिक्त मौसम रडार, राकेट और मौसम उपग्रह भी चौबीसों घंटे मौसम का अवलोकन करते रहते हैं और उपलब्ध मापों को चित्र आदि की मदद से मौसम वेधशालाओं को भेजते रहते हैं।

इस प्रकार प्राप्त होने वाली जानकारीयों को विशेष मानचित्रों और डायग्रामों में विशेष पद्धति के अनुसार (विशेष कोड में) अंकित किया जाता है। यह कार्य कम्प्यूटरों द्वारा निरंतर किया जाता रहता है। इस प्रकार के मानचित्रों को "मौसम मानचित्र" (सिनोप्टिक मैप) कहते हैं। इनसे किसी भी क्षेत्र विशेष के किसी खास समय के, वायु के ताप, दाब, आर्द्रता, वर्षा, हिमपात, कोहरा आदि की स्थिति ज्ञात हो जाती है। उनके अनुसार ही मौसम बुलेटिन तैयार किए जाते हैं और रेडियो, टेलीविजन आदि पर सूचनाएं प्रसारित की जाती हैं।

आजकल सिनोप्टिक मानचित्र केवल धरती की सतह के ही नहीं, वरन् वायुमंडल के विभिन्न स्तरों के लिए भी तैयार किए जाते हैं। साथ ही विभिन्न कार्यों के लिए वे भिन्न-भिन्न तरीकों से भी तैयार किए जाते हैं।

मौसम वेधशाला में सिनोप्टिक मानचित्रों के निरंतर विश्लेषण भी होते रहते हैं। निश्चय ही यह कार्य भी कम्प्यूटर ही करता है। परंतु इसमें हजारों नहीं वरन् लाखों-करोड़ों गणितीय समीकरणों को अत्यंत शीघ्रता से पलक झपकने से भी कम समय में, हल करना होता है। इसलिए इस कार्य के लिए सुपर कम्प्यूटरों की सेवाओं का उपयोग किया जाता है। सुपर कम्प्यूटरों के विश्लेषणों के नतीजों के अनुसार आने वाले मौसम के पूर्वानुमान लगाए जाते हैं और तदनुसार मौसम की भविष्यवाणी की जाती है।

यहां सहज ही यह प्रश्न उठता है कि जब मौसम का पूर्वानुमान लगाने के लिए इतना सब कार्य किया जाता है, इतना परिश्रम किया जाता है, तब वह सही क्यों नहीं उतरता? इसका एक प्रमुख कारण यह है कि अब भी हमें मौसम को नियंत्रित और प्रभावित करने वाले सब कारकों की गतिविधियों के बारे में पूरी और सही जानकारी नहीं है। उनके ऐसे अनेक गुण हैं जिनके बारे में हम अब भी अनभिज्ञ हैं। हम उनके बारे में ज्ञान प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील हैं और हमें पूर्ण आशा है कि एक दिन वह हमें

अवश्य प्राप्त हो जाएगा। पर उस दिन तक हमें मौसम की इसी प्रकार की भविष्यवाणियों से “काम चलाना पड़ेगा।”

पूर्वानुमान

आजकल आने वाले मौसम का पूर्वानुमान तीन प्रकार से लगाया जाता है। एक अनुमान आगामी 48 घंटों या उससे कम अवधि के मौसम के बारे में होता है; दूसरा आगामी 2 से 7 दिनों के मौसम के बारे में और तीसरा आगामी एक सप्ताह से अधिक अवधि के लिए। यह दीर्घ अवधि एक पखवाड़ा, एक मास, एक ऋतु, एक वर्ष अथवा उससे भी अधिक हो सकती है।

समाचार पत्रों, रेडियो या टेलीविजन में आमतौर से मौसम की जिन पूर्वसूचनाओं का प्रसारण किया जाता है, वे आगामी लगभग 24 घंटों के लिए होती हैं। उन्हें “लघु अवधि पूर्वसूचना” कहते हैं। उससे मौसम को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों यथा वायुमंडल के ताप, दाब, उसमें नमी की मात्रा आदि में परिवर्तनों के तथा वर्षा, आंधी, कोहरा, पाला, हिमपात आदि के आने के बारे में अनुमान होता है उसमें साधारणतया आकाश के मेघाच्छादित होने या न होने के बारे में भी अनुमान होते हैं। साथ ही यह भी बताने के प्रयत्न किए जाते हैं कि आगामी चौबीस घंटों में दृश्यता में परिवर्तन की संभावना होगी या नहीं।

वह लघु अवधि पूर्वसूचना जो आगामी 12 घंटों के लिए होती है आमतौर से 80 से 90 प्रतिशत तक सही उतरती है। पूर्वानुमान की अवधि के बढ़ने के साथ-साथ उसकी परिशुद्धता कम होने लगती है। इसीलिए 48 घंटे से अधिक अवधि के मौसम के संबंध में दी जाने वाली पूर्वसूचना “अनुमान” (आउटलुक) कहलाने लगती है।

आगामी दो से सात दिनों के मौसम के बारे में दी जाने वाली पूर्वसूचना “मध्यम अवधि पूर्वसूचना” कहलाती है। इसमें मौसम को प्रभावित करने वाले कारकों में होने वाले संभावित परिवर्तनों के अनुमान इतने विस्तार से नहीं बताए जाते जितने विस्तार से लघु अवधि पूर्वसूचना में। वास्तव में इतनी अवधि के लिए सब संभावित परिवर्तनों का अनुमान लगाना बहुत कठिन होता है। जैसा कि आपको विदित है इन कारकों की स्वतंत्र गतिविधियां ही काफी जटिल होती हैं परंतु अन्य कारकों, जो इनके साथ जटिल अंतःक्रियाएं करते हैं, की उपस्थिति में उनकी गतिविधियों का पूर्वानुमान लगाना अत्यंत दुरुह कार्य हो जाता है।

आगामी एक सप्ताह या उससे अधिक अवधि के बाद आने वाले मौसम के बारे में सही पूर्वसूचना देना अब भी, अंधेरी रात में काले कौवे को मारने के प्रयास के समान होता है। अनेक बार पूर्वसूचना एकदम सही भी उतरती हैं परंतु उनके गलत होने की संभावनाएं भी काफी अधिक होती हैं। इसके बावजूद संसार के लगभग सभी देशों में मौसमवैज्ञानिक आगामी वर्ष में होने वाली वर्षा, गर्मी, हिमपात या सर्दी आदि के अनुमान लगाने के प्रयत्न करते हैं क्योंकि आज भी मनुष्य की कितनी ही व्यक्तिगत और सार्वजनिक योजनाओं की सफलता मौसम की कृपा पर ही निर्भर होती है। उसके थोड़े से भी कुपित हो जाने से अनेक योजनाएं सिर्फ योजनाएं ही रह जाती हैं – कार्यावित नहीं हो पातीं।

हमारे देश के लिए मानसून हवाएं, विशेष रूप से गर्मी की मानसून हवाएं, अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। उनके ऊपर ही हमारी संपूर्ण आर्थिक व्यवस्था निर्भर है। इसलिए उनका उनसे होने वाली वर्षा की

मात्रा का - पूर्वानुमान लगाना हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण होता है। हमारा मौसमविज्ञान विभाग वर्ष 1986 से, हर वर्ष मानसूनों, विशेष रूप से गर्मी के मानसून के पूर्वानुमान लगाता आ रहा है। खुशी की बात है कि इनमें से अधिकांश पूर्वानुमान सही उतरे हैं।

एक अगले अध्याय में हम मानसूनों के दीर्घकालीन पूर्वानुमान लगाने के प्रयत्नों की चर्चा करेंगे। साथ ही एल नीनो, जिसका अनेक मौसमवैज्ञानिकों के अनुसार भारत में होने वाली वर्षा के साथ घनिष्ठ संबंध है, का भी विवरण पेश करेंगे।

मौसम वैज्ञानिक संस्थाएं

मौसम राजनैतिक सीमाओं का आदर नहीं करता। उसका कार्यक्षेत्र तो संपूर्ण पृथ्वी है। पृथ्वी के एक क्षेत्र में वायु के दाब में होने वाली घट-बढ़ हजारों किलोमीटर दूर आंधी-तूफान ला सकती है। इसी प्रकार सागर से प्राप्त वाष्प से कितनी ही दूर वर्षा हो सकती है। एक देश में आने वाले मौसम का पूर्वानुमान लगाने के लिए आमतौर पर आसपास के क्षेत्रों में और कभी-कभी पूरे विश्व में होने वाली मौसम संबंधी घटनाओं पर विचार करना जरूरी होता है क्योंकि वे घटनाएं भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपना प्रभाव डालती रहती हैं। इसलिए मौसम का अवलोकन और उससे संबंधित सूचनाओं का प्रसार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर करना जरूरी होता है।

विश्वव्यापी स्तर पर मौसम का अवलोकन करने के बारे में पहला कदम उठाया गया यूरोप में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में। वहां बेल्जियम की राजधानी, ब्रुसेल्स, में सन् 1853 में पहला मौसम संबंधी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। जैसा कि आप पहले पढ़ चुके हैं उसके अगले वर्ष ही, क्रीमिया युद्ध के दौरान काले सागर में बालकलावा बंदरगाह में खड़े फ्रांसीसी और अंग्रेजी जहाजी बेडों को एक भीषण तूफान ने नष्ट कर दिया। लोगों का मत है कि अगर इंग्लैंड और फ्रांस की सेनाओं को इस तूफान की पूर्वसूचना मिल गई होती तब इतनी अधिक तबाही नहीं होती। वैसे उस समय तक यूरोप में टेलीग्राफ का प्रचलन हो गया था और उसकी मदद से मौसम संबंधी जानकारी का प्रेषण होने लगा था।

उसके बाद 1873 में वियाना में प्रथम अंतर्राष्ट्रीय मौसमविज्ञान कांग्रेस का आयोजन किया गया। इस कांग्रेस के फलस्वरूप ही अंतर्राष्ट्रीय मौसमविज्ञान संगठन (इंटरनेशनल मेटिरिओलॉजिकल ऑर्गेनाइजेशन-आई.एम.ओ.) का जन्म हुआ। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य था मौसमविज्ञान के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से कार्य करना। वैसे 1878 में ही भारत भी इस संगठन का सदस्य बन गया था।

परन्तु अनेक वर्षों तक, द्वितीय विश्व युद्ध के अंत तक - यह संगठन लगभग सुप्त अवस्था में रहा आया। सन् 1951 में इस संगठन को समाप्त करके एक नए अंतर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया गया। अंतर्राष्ट्रीय मौसमविज्ञान संगठन के सब सदस्य देशों ने आम राय से विश्व मौसम विज्ञान संगठन (वर्ल्ड मेटिरिओलॉजिकल ऑर्गेनाइजेशन - डब्लू.एम.ओ.) का गठन किया। यह संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशेषज्ञता एजेंसी है और भारत इसका संस्थापक सदस्य है।

विश्व मौसमविज्ञान संगठन का उद्देश्य विभिन्न देशों में मौसम प्रेक्षण केंद्र स्थापित करना, उनके द्वारा एकत्रित की जाने वाली जानकारियों का विभिन्न देशों के बीच आदान-प्रदान करना, तथा

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कृषि, उड़डयन, जहाजरानी आदि को मौसम संबंधी सूचनाएं और पूर्वानुमान प्रदान करना तथा मौसमविज्ञान की विविध शाखाओं में शोध और प्रशिक्षण प्रदान करना है।

विश्व मौसमविज्ञान संगठन ने मौसम संबंधी विविध वस्तुओं और तकनीकों के लिए मानक विशिष्टियां और प्रक्रम निश्चित किए हैं। इनमें मौसम अवलोकन हेतु इस्तेमाल किए जाने वाले उपकरण, तकनीकें आदि भी सम्मिलित हैं। विश्व मौसम – विज्ञान संगठन की कुछ सिफारिशों को हर सदस्य देश के लिए मानना अनिवार्य होता है जबकि कुछ का मानना सदस्य की इच्छा पर निर्भर होता है।

इस संगठन का उद्देश्य पूरी मानव जाति के हित के लिए विश्व के हर देश को मौसम संबंधी जानकारी को सही रूप में शुद्धता और शीघ्रता से प्राप्त कराना है। इसके लिए उसने वैज्ञानिक यूनियनों की अंतर्राष्ट्रीय परिषद (इंटरनेशनल कौंसिल ऑफ साइंटिफिक यूनियन्स) के साथ एक विश्वव्यापी कार्यक्रम तैयार किया है। उस कार्यक्रम के दो भाग हैं – ये हैं : विश्व मौसम निगरानी (वर्ल्ड वैदर वाच – डब्लू डब्लू डब्लू) और विश्वव्यापी वायुमंडलीय अनुसंधान कार्यक्रम (ग्लोबल एटमॉस्फीयरिक रिसर्च प्रोग्राम – जी ए आर पी – ग्राप)।

विश्व मौसम निगरानी के तीन भाग हैं (1) विश्व प्रेक्षण व्यवस्था (ग्लोबल आब्जरविंग सिस्टम) (2) विश्व दूरसंचार व्यवस्था (ग्लोबल टेली कम्यूनिकेशन सिस्टम) और (3) विश्व डेटा उपचार व्यवस्था (ग्लोबल डेटा प्रोसेसिंग सिस्टम)। इनमें विश्व प्रेक्षण व्यवस्था लगभग 9000 थलीय केंद्रों तथा समुद्री मौसम जलयानों, लगभग 5000 व्यावसायिक जल-जहाजों, वायुयानों और मौसम उपग्रहों की समन्वय व्यवस्था है।

विश्व दूरसंचार व्यवस्था उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्ध को आपस में जोड़ने वाली व्यवस्था है। दोनों गोलार्द्धों के बीच यह संपर्क मेन ट्रंक सर्किट से और क्षेत्रीय दूर संचार के माध्यमों से स्थापित है। अवलोकित आंकड़ों और उपचारित डेटा के शीघ्र विनिमय के लिए इन्हें राष्ट्रीय नेटवर्कों से समावेशित कर लिया गया है। अवलोकनों से प्राप्त जानकारी को विश्लेषण के लिए तथा उन्हें उस रूप में, जिसमें इस्तेमाल किया जा सके, परिवर्तित करने का कार्य विश्व डेटा उपचार व्यवस्था करती है। वह कुछ विशिष्ट विश्व और क्षेत्रीय केंद्रों की, जहां उच्च गति की कम्प्यूटर सुविधाएं उपलब्ध हैं, इन जानकारियों को आवश्यकतानुसार पुनः उपलब्ध भी करा सकती है। ग्राप विश्व मौसम विज्ञान संगठन की प्रमुख अनुसंधान शाखा है। वह वायुमंडल के प्रायोगिक अध्ययन हेतु गणितीय मॉडल आदि उपलब्ध कराती है।

भारत में मौसम के पूर्वानुमान के प्रयास

हमारे देश में मौसम इतनी शीघ्रता से नहीं बदलता जितना अन्य देशों में, विशेष रूप से पश्चिमी यूरोपीय देशों में। इसलिए लोग उसके बारे में अधिक चर्चा नहीं करते परन्तु इसका अर्थ नहीं कि हमारे देशवासियों को मौसम में रुचि नहीं है। वास्तव में वे प्राचीन काल से ही मौसम में रुचि लेते रहे हैं। हमारे सबसे प्राचीन ग्रंथ, ऋग्वेद में उत्तर-पश्चिमी भारत के मौसम के उल्लेख हैं। समझा जाता है कि ये उल्लेख भारत में ही नहीं वरन् पूरे विश्व में सबसे पुराने मौसम संबंधी उल्लेख हैं। इनमें से अधिकतर उल्लेख मानवेतर चरित्रों की आड़ लेकर किए गए हैं। ऋग्वेद कालीन विद्वानों ने “वायु” और “मारुत” और “पवन” शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है। “मारुत” से उनका अभिप्राय प्रचंड पवन से था। *रामायण* और *महाभारत* में भी देश के विभिन्न क्षेत्रों के मौसम के वर्णन हैं। ये वर्णन इतने सुंदर और विशद हैं कि अत्यंत पैनी दृष्टि से किए गए अवलोकन प्रतीत होते हैं। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में जिनका रचनाकाल ईसा पूर्व चौथी शताब्दी था, विभिन्न स्थानों पर होने वाली वर्षा की मात्राओं के उल्लेख हैं तथा वर्षा मापने की विधियों और उपकरणों के वर्णन हैं। कौटिल्य ने वर्षा को आयतन के हिसाब से मापने की विधि सुझायी थी।

कालिदास के लगभग सभी ग्रंथों में प्रकृति का चित्रण अत्यंत सुंदर विधि से किया गया है। ये सब ग्रंथ मौसम संबंधी प्रसंगों से भरपूर हैं। वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ *बृहत् संहिता* में मौसम संबंधी अनेक उल्लेख किए हैं। उन्होंने वर्षा मापने के तरीके भी सुझाए हैं और पवन की गति मापने के यंत्रों के वर्णन भी दिए हैं।

यद्यपि हमारे देश में प्राचीन और मध्य युगों में खगोलीय पिंडों की गतिविधियां ज्ञात करने के लिए अनेक वेधशालाएं स्थापित की गई थीं परन्तु वे दिन-प्रतिदिन के मौसम के अवलोकनों हेतु नहीं बनायी गई थीं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं यथा हमारे पूर्वजों ने अपनी विलक्षण अवलोकन क्षमता से आने वाले मौसम के बारे में ‘पूर्वसंकेत’ ज्ञात कर लिए थे और इनको जनसाधारण की भाषा और शब्दावली में वर्णित कर दिया था। इससे एक साधारण, अनपढ़, किसान भी उन संकेतों को भली-भांति समझ लेता था और उनसे आने वाली वर्षा, तूफान, सुखद मौसम आदि का अनुमान लगा लेता था। इस प्रकार के पूर्वसंकेतों के अविष्कारकों के रूप में घाघ और भड्डरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

थर्मामीटर, बैरोमीटर तथा वर्षामापक यंत्रों के अविष्कार पश्चिमी देशों में हुए। एक साधारण ग्रामीण भारतीय इनसे बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक भी अनभिज्ञ था। इसलिए हमारे छोटे शहरों और कस्बों में आधुनिक युग के आरंभ होने तक भी मौसम संबंधी माप लेने वाले उपकरण आसानी से उपलब्ध

नहीं थे।

मौसम की पूर्वसूचना की जरूरत 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महसूस की गई। उस समय पूरे देश में अराजकता छाने लगी थी। व्यापार के लिए भारत आए यूरोपवासी, विशेष रूप से अंग्रेज और फ्रांसीसी अपने राज्य कायम करने के लिए लालायित हो उठे थे। साथ ही उन्हें अपनी सेनाओं को, जो अब तक लुटेरों से रक्षा करने के लिए रखी गई थी, भारतीय राजाओं पर हमला करने के लिए जल्दी-जल्दी एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाना पड़ता था।

अपने देशों से भारत आने के लिए यूरोपवासियों को लंबी-लंबी समुद्री यात्राएं करनी पड़ती थीं। समुद्री यात्राओं के लिए मौसम का पूर्वानुमान लगाना बहुत जरूरी होता है। इसी प्रकार सेनाओं के स्थानांतरण से पहले यह जानना हमेशा श्रेयकर होता था कि ऐसा करते समय मौसम उपयुक्त रहेगा या नहीं।

वेधशाला : इन आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में संपूर्ण भारत का पहला ऐसा मानचित्र जो उस समय तक उपलब्ध जानकारीयों के अनुसार एकदम सही था, सन् 1752 में फ्रांसीसी पादरी ज्यां बैप्टिस्ट बूगियों द एनबी ने तैयार किया। उसके 36 वर्ष बाद 1788 में विलियम पैट्री नामक अंग्रेज ने मद्रास में अपने घर में ही एक निजी वेधशाला स्थापित की। अगले वर्ष इंग्लैंड लौटते समय उन्होंने यह वेधशाला तत्कालीन मद्रास सरकार को सौंप दी। इसका उद्देश्य ग्रहों की कक्षाओं का अध्ययन करना था। यूरोप से बाहर यह किसी भी देश में स्थापित पहली आधुनिक वेधशाला थी। सन् 1792 में इस वेधशाला की दक्षिणी दीवार पर एक शिलालेख लगाया गया। इस पर तमिल, तेलुगू, देवनागरी और लैटिन लिपियों में आलेख थे। बाद में सितम्बर 1793 से इसमें मौसम संबंधी अवलोकन आरंभ हुए। उसके बाद कोलाबा (मुंबई) में 1823 में, कलकत्ता में 1829 में 'तिरुवअनंतूरम में, 1836 में' और शिमला में 1841 में वेधशालाएं स्थापित की गईं। 1843 में मुंबई से पहली बार मौसम की जानकारी प्राप्त करने हेतु गुब्बारे छोड़े गए। पतंग उड़ाकर प्राप्त की गई जानकारीयों के आधार पर पहला मौसम चार्ट 1905 में तैयार किया गया।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक ब्रिटेन से भारत आने वाले व्यक्ति जल जहाजों से ही आते थे। उन्नीसवीं सदी के लगभग मध्य तक बंगाल की खाड़ी में आने वाले तूफानों और चक्रवातों के आगमन की पूर्वसूचना देने की कोई व्यवस्था नहीं थी। यद्यपि उस समय भी बंगाल की खाड़ी में भयंकर चक्रवात आते रहते थे। उनमें फंसकर अक्सर ही जहाज और यात्री डूबते रहते थे। इसलिए पहले ईस्ट इंडिया कंपनी ने जल जहाजों की लॉग बुक आदि के अध्ययन कराने आरंभ कराए। ये अध्ययन आमतौर से वैज्ञानिकों द्वारा किए जाते थे। कहा जाता है कि इन्हीं वैज्ञानिकों में से हेनरी पिडिंग्टन ने बंगाल की खाड़ी के चक्रवातों के लिए सन् 1848 में "साइक्लोन" नाम सुझाया था। यह नाम उन्होंने ग्रीक भाषा के उस शब्द से गढ़ा था जिसका अर्थ होता है "सांप की कुंडली"। बाद में यह नाम उष्ण कटिबंधीय चक्रवातों, विशेष रूप से दक्षिण-पूर्वी एशिया में आने वाले चक्रवातों, के लिए प्रचलित हो गया।

सन् 1864 में बंगाल की खाड़ी में आए एक चक्रवात ने कलकत्ता और उसके आसपास के क्षेत्र में भीषण तबाही मचा दी थी। कहते हैं कि उस चक्रवात की चपेट में आ कर अस्सी हजार से ज्यादा आदमी मर गए थे। उसके कुछ सप्ताह बाद ही मसलीपत्तम में आए चक्रवात ने 40,000

व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया था। इन दुर्घटनाओं से प्रेरित होकर वर्ष 1865 में कलकत्ता में एक बंदरगाह चेतावनी प्रणाली (पोर्ट वार्निंग सिस्टम) स्थापित की गई।

जिस प्रकार बंगाल की खाड़ी के चक्रवातों ने तत्कालीन सरकार को बंदरगाह चेतावनी स्थापित करने के लिए प्रेरित किया था उसी प्रकार तत्कालीन मद्रास प्रांत में 1876 में और 1877 में उत्तर-पश्चिम प्रांत में पड़े सूखे और अकालों ने वर्षा की पूर्वसूचना देने के लिए केंद्र स्थापित करने के लिए मजबूर किया। इस प्रकार 1874 तक देश में 77 मौसम वेधशालाएं स्थापित हो चुकी थीं। इन केंद्रों ने बाद में भारतीय मौसमविज्ञान संगठन की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

यद्यपि बंगाल की खाड़ी में आने वाले चक्रवातों (हमारे देश में अधिकांश चक्रवात बंगाल की खाड़ी से ही आते हैं) की पूर्वसूचना देने के लिए 1865 में ही कलकत्ता में बंदरगाह चेतावनी प्रणाली स्थापित हो चुकी थी परंतु उसके काफी समय बाद तक भी अरब सागर के चक्रवातों की पूर्वसूचना देने की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। यद्यपि अरब सागर में अपेक्षाकृत काफी कम चक्रवात उत्पन्न होते हैं परंतु उनकी विनाशकारी क्षमता कहीं अधिक होती है। इसलिए 1880 में मुंबई बंदरगाह में चेतावनी प्रणाली स्थापित की गई। धीरे-धीरे ऐसी प्रणालियां देश के अन्य बंदरगाहों में भी स्थापित कर दी गईं।

आरंभ में मौसमविज्ञान केंद्रों की स्थापना प्रांतीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनके अनुसार की गई थी परंतु शीघ्र ही सरकार को यह ज्ञात हो गया कि मौसम संबंधी जानकारीयां प्राप्त करने और उनका समुचित उपयोग करने हेतु मौसमविज्ञान विभाग को देशव्यापी स्तर पर पुनर्गठित करना बेहतर होगा। अतएव उसे 1875 में भारतीय स्तर पर स्थापित किया गया। भारतीय मौसमविज्ञान विभाग, अपनी स्थापना के तीन वर्ष के भीतर ही अंतर्राष्ट्रीय मौसमविज्ञान संगठन का सदस्य बन गया था।

इस बारे में एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अंतर्राष्ट्रीय मौसमविज्ञान संगठन में भारतीय मौसमविज्ञान विभाग का प्रतिनिधित्व उस समय भी, उन्नीसवीं सदी में भी, भारतीय ही करते थे — अंग्रेज नहीं। वैसे भारतीय मौसमविज्ञान विभाग में आरंभ से ही भारतीयों का ही बोलबाला रहा है। उसमें अंग्रेज अधिकारियों की संख्या बहुत कम थी। देश के स्वतंत्र होने के तीन वर्ष पूर्व ही इस विभाग के महानिदेशक के पद पर भी भारतीय वैज्ञानिक आसीन हो चुके थे। इस का पूर्णतः भारतीयकरण हो चुका था।

मौसम मानचित्र : मौसम को प्रभावित करने वाले कारकों के बारे में प्राप्त आंकड़ों की मदद से मौसम संबंधी सिनोप्टिक चार्ट तैयार किए जाते हैं। आमतौर पर ये मानचित्र उस समय तैयार हो पाते हैं जब मौसम बीत चुका होता है। ये पहला सिनोप्टिक चार्ट, 1820 के दशक में, यूरोप में, तैयार किया गया था। यद्यपि आजकल इनकी मदद से आने वाले मौसम का अनुमान लगा लिया जाता है और उसके अनुरूप पूर्वसूचनाएं प्रेषित कर दी जाती हैं। परंतु, आरंभ में, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, मौसम संबंधी आंकड़े डाक द्वारा प्रेषित किए जाते थे। इसलिए ये चार्ट मौसम के "मरणोपरांत अध्ययन" (पोस्टमार्टन स्टडी) होते थे। बाद में, अठारह सौ तीस के दशक में, टेलीग्राफ के आविष्कार और उसका मौसम संबंधी आंकड़ों के प्रेषण में उपयोग आरंभ हो जाने के बाद, सिनोप्टिक चार्ट शीघ्रता से बनाए जाने लगे और उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई।

भारत में मौसम संबंधी आंकड़ों के प्रेषण के लिए टेलीग्राफ का सर्वप्रथम उपयोग 15 जून, 1878

को किया गया। उस दिन 51 मौसम केन्द्रों ने अपनी सूचनाएं भारतीय मौसम विज्ञान विभाग के शिमला कार्यालय को भेजी थीं। इसके दो दिन बाद ही इन सूचनाओं के आधार पर एक रिपोर्ट तैयार कर भारतीय दैनिक मौसम रिपोर्ट के रूप में प्रेषित कर दी गई थी। परंतु दैनिक मौसम रिपोर्ट में मौसम चार्ट को पहली बार 13 अक्टूबर, 1887 को स्थान मिला।

समझा जाता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में पिछले 120 वर्षों में 25 बार बड़े पैमाने पर सूखे पड़े हैं। इन 25 बार में से तीन बार भारत का 50 प्रतिशत भाग सूखे से पीड़ित था। इन मौकों पर हमारे मौसमविज्ञान विभाग ने पूर्वचेतावनियां प्रेषित कर दी थीं परंतु लोगों ने उन पर ध्यान नहीं दिया था। परिणामस्वरूप वे भीषण अकाल की चपेट में आ गए।

पिछली एक शताब्दी में इस विभाग का बहुत तेजी से विकास और विस्तार हुआ है। साथ ही विशेषज्ञता के क्षेत्र में भी उसने आशातीत प्रगति की है। आज यह विभाग देश की विभिन्न आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर मौसम संबंधी सूचनाएं एकत्रित करने और उनके आधार पर आने वाले मौसम की पूर्वसूचनाएं प्रदान करता है। यह किसानों और मछुआरों को तो पूर्वसूचनाएं प्रदान करता ही है नागरिक उड़्डयन विभाग, जहाजरानी, वायुसेना, नौ सेना, थल सेना तथा अन्य अनेक विभागों और व्यक्तियों को भी आने वाले मौसम की सूचनाएं निरंतर देता रहता है। साथ ही यह पड़ोसी देशों और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत संस्थाओं को भी मौसम संबंधी जानकारीयां उपलब्ध कराता है।

आज भारतीय मौसमविज्ञान विभाग की 600 से अधिक थलीय वेधशालाएं हैं जहां हर दिन, बिना बाधा के, घनघोर वर्षा, भीषण ठंड, भयंकर तूफान और जानलेवा गर्मी के बावजूद वर्ष के 365 दिन पूर्वनिश्चित समय पर, मौसम संबंधी आंकड़े – वायु के अधिकतम और न्यूनतम ताप, दाब, वायुमंडल में नमी की मात्रा, वर्षा, कोहरा आदि के बारे में आंकड़े – एकत्रित किए जाते हैं।

ये माप धरती की सतह पर हर तीन घंटे बाद और उच्च वायुमंडल में हर 6 घंटों बाद लिए जाते हैं। जहां तक वर्षा का संबंध है उसकी गणना 24 घंटों की समयावधि में जो सुबह 8.30 बजे से लेकर अगले दिन उसी समय तक होती है, में की जाती है। वर्षा मापन का कार्य मुख्यतः राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। इसके लिए देश भर में 450 स्थानों पर वर्षा मापक यंत्र स्थापित किए गए हैं। यह जानने के लिए कि देश के किन स्थानों पर कितना हिमपात होता है 80 स्थानों पर हिममापक यंत्र लगाए गए हैं। साथ ही विभाग के अंतर्गत 60 पायलट बैलून और रेडियोसॉंडे वेधशालाएं, 60 चालू मौसम वेधशालाएं, अनेक अंशकालिक वेधशालाएं, विशेष कृषि और सिंचाई, जल मौसम वैज्ञानिक आदि वेधशालाएं हैं। ये वेधशालाएं प्रशिक्षित कर्मचारियों की देखरेख में कार्य करती हैं।

इनके अतिरिक्त हमारे देश में ऐसी मौसम वेधशालाएं भी कार्यरत हैं जो भारतीय मौसमविज्ञान विभाग के सीधे नियंत्रण में नहीं हैं। वे स्वैच्छिक गैरसरकारी संस्थाओं के आधीन हैं परन्तु मौसमविज्ञान विभाग उनका पथ-प्रदर्शन करता रहता है।

उक्त केंद्र अपने आंकड़े प्रतिदिन भारतीय मौसमविज्ञान विभाग को भेजते रहते हैं। वहां इन आंकड़ों को कम्प्यूटर तथा अन्य उपकरणों की मदद से वर्गीकृत किया जाता है और उनको अन्य क्षेत्रों के आंकड़ों के साथ मिलाकर पूरे देश के मौसम की सूचना दी जाती है। पर उससे भी आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य होता है इन आंकड़ों के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में आने वाले मौसम का पूर्वानुमान लगाना। इस पूर्वानुमान के लिए कम्प्यूटरों की भरपूर मदद ली जाती है। यह कार्य निरंतर, बिना रुके,

होता रहता है और दिन में कई बार पूर्वानुमान लगाए जाते रहते हैं। बाद में ये अनुमान रेडियो, टेलीविजन और समाचारपत्रों को प्रसारण के लिए भेज दिए जाते हैं।

यहां यह बता देना आवश्यक होगा कि आज हमारे मौसमविज्ञान विभाग के पास भी मौसम संबंधी जानकारी उपलब्ध करने के लिए विशेष जल जहाज, वायुयान, रडार, रैबिन, रेडियोसॉन्डे आदि आधुनिकतम सुविधाएं हैं। साथ ही इनके द्वारा उपलब्ध आंकड़ों को ग्रहण करके उपचारित करने के लिए सुपर कम्प्यूटर हैं। आज हमारे अपने उपग्रह अन्य कार्यों के साथ मौसम संबंधी जानकारीयां भी निरंतर प्रेषित करते रहते हैं। इन उपग्रहों द्वारा प्रेषित बादलों तथा चक्रवातों आदि के चित्र आप प्रतिदिन टेलीविजन पर देखते हैं।

भारतीय मौसम विज्ञान विभाग का मुख्यालय नई दिल्ली में है जिसके अंतर्गत 5 क्षेत्रीय केन्द्र, दिल्ली, कलकत्ता, मुंबई, चेन्नई और नागपुर में कार्यरत हैं। ये क्षेत्रीय केन्द्र अपने इलाके की सूचनाएं एकत्रित करके उन्हें वर्गीकृत करते हैं और उनके आधार पर अपने क्षेत्र के मौसम की सूचना और पूर्वानुमान प्रेषित करते हैं। साथ ही ये इन सूचनाओं को केन्द्रीय कार्यालय को भी प्रेषित करते हैं जिससे पूरे देश के मौसम के बारे में सूचनाएं प्रसारित की जा सकें।



अध्याय आठ

मानसून का दीर्घकालीन पूर्वानुमान

आधुनिक युग में मानसूनों (वर्षा) का पूर्वानुमान लगाने के कार्य का आरंभ किया सर गिलबर्ट वाकर ने, जो 1904 से लेकर 1921 तक भारतीय मौसमविज्ञान विभाग के अध्यक्ष थे। इस पद को ग्रहण करने के लिए वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कालेज की फेलोशिप छोड़ कर आए थे। भारतीय मौसमविज्ञान विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्यरत रहने के दौरान ही 1920 में उन्होंने पवनों के उस अत्यंत विशाल परिसंचरण चक्र की खोज की थी, जो बाद में “वाकर चक्र” के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जो एल नीनो की घटना का परोक्ष कारण है (वाकर चक्र के बारे में एलनीनो के अंतर्गत विस्तार से पढ़िए।

गिलबर्ट वाकर मूलतः वैज्ञानिक थे। वैज्ञानिकों की भांति उन्होंने सबसे पहले पृथ्वी के विभिन्न इलाकों में घटने वाली उन प्राकृतिक घटनाओं का गहन अवलोकन किया जो उनके विचार से मानसून विशेष रूप से गर्मी की मानसून की उत्पत्ति, उसकी वर्षा करने की क्षमता आदि, को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से प्रभावित कर सकती थी। अपने अवलोकनों में उन्हें पता चला कि भारतीय प्रायद्वीप में जून से सितंबर तक होने वाली वर्षा और दक्षिण अमेरिका के कुछ क्षेत्रों में अप्रैल और मई के महिनों में रहने वाले वायुदाब के बीच घनिष्ठ संबंध है।

अपने प्रारंभिक अध्ययनों में ही वाकर ने यह ज्ञात कर लिया था कि सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊर्जा का दृश्य प्रभाव वायुमंडल में प्राकृतिक दोलन उत्पन्न कर देता है। उनके विचार से सूर्य के धब्बों की संख्या सौर ऊर्जा की मात्रा की द्योतक होती है तथा उन धब्बों और पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों के वायुदाब, ताप और वर्षा के बीच संबंध है।

अंत में “विश्व मौसम” पर माला के रूप में प्रकाशित अपने शोध लेखों में उन्होंने वायुमंडल के व्यापक परिसंचरण में तीन प्रकार के दोलनों की उपस्थिति के प्रमाण प्रस्तुत किए। इन दोलनों में, हमारे लिए, कदाचित् सर्वाधिक महत्वपूर्ण है दक्षिणी दोलन (सदर्न ऑसिलेशन)। इस दोलन के फलस्वरूप ही जब प्रशांत महासागर के ऊपर वायुदाब उच्च होता है तब हिंद महासागर पर वायु दाब निम्न हो जाता है। इसी प्रकार प्रशांत महासागर पर वायु दाब के निम्न हो जाने पर हिंद महासागर पर दाब बढ़ जाता है। दक्षिणी दोलन की खोज के बाद वाकर ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस बारे में और अध्ययन करने से उन कारकों की जानकारी प्राप्त हो सकती है जो मानसून की उत्पत्ति से घनिष्ठ रूप से संबंधित होते हैं। कालांतर में वाकर ने ऐसे आठ कारकों की सूची तैयार की जिनसे, उनके अनुसार, मानसून वर्षा का पूर्वानुमान लगाया जा सकता था। ये कारक थे :

(1) मानसून-पूर्व अवधि में उत्तर और पश्चिमी भारत पर, देर से होने वाला भारी हिमपात : आमतौर से यह घटना आगामी बरसात में अच्छी वर्षा के पक्ष में नहीं होती। इससे वसंत ऋतु के उत्तरार्द्ध में भी हिमालय पर्वत पर बर्फ की भारी मात्रा, स्थानीय तौर पर, उच्च दाब का क्षेत्र बना देती है। इस से पवन उत्तर की ओर बहने लगती हैं और पंजाब तथा आसपास के इलाकों पर अच्छी मानसून वर्षा नहीं हो पाती।

(2) अप्रैल और मई महीनों में जंजीबार और सेशल्स में भारी वर्षा होना : ऐसा होने पर मानसून हवाओं के ऊपर भूमध्यरेखिक पवन हाबी हो जाती हैं। इसलिए यह घटना भी भारत में अच्छी वर्षा के पक्ष में नहीं होती।

(3) दक्षिण अमेरिका के ऊपर उच्च दाब : दक्षिण अमेरिका का वायु दाब दक्षिणी प्रशांत महासागर के ऊपर के वायु दाब का द्योतक है। दक्षिणी दोलन के अनुसार दक्षिणी प्रशांत महासागर पर उच्च दाब की उपस्थिति हिंद महासागर पर निम्न दाब उत्पन्न कर देती है और हिंद महासागर पर निम्न दाब प्रबल मानसून पवन के उत्पादन में - भारत में अच्छी वर्षा होने में - सहायक होता है।

(4) वसंत ऋतु में मॉरीशस और आस्ट्रेलिया के इर्द-गिर्द उच्च दाब : यह घटना भी भूमध्यरेखिक पवन को मानसून पर हाबी होने में मदद देती है। अतएव भारत में प्रबल मानसून के पक्ष में नहीं होती।

(5) पिछले वर्ष के दौरान भारत पर उच्च दाब : यह घटना प्रबल मानसून - अच्छी वर्षा - के पक्ष में होती है।

(6) मई में हिंद महासागर के ऊपर तेज पवन का बहना : ये जून-सितंबर अवधि में भारत में अच्छी वर्षा की सूचक होती हैं। इन के बारे में आमतौर से सबसे पहले हिंद महासागर पर विचरण करने वाले जलयान की सूचना देते हैं।

(7) मई में इथियोपिया में भारी वर्षा होना : इथियोपिया (उत्तर-पूर्वी अफ्रीका) के आसपास भारी वर्षा होना मानसूनों के आगमन का सूचक होता है। वहां पहुंचने के कुछ दिन बाद ही मानसून भारत में आ जाती है।

(8) नील नदी का जल स्तर : किसी नदी में जल स्तर के ऊपर उठ जाने का अर्थ है उसके जल ग्रहण क्षेत्र में वर्षा का होना। नील नदी के जल ग्रहण क्षेत्र में इथियोपिया के आसपास का क्षेत्र भी शामिल है। वहां वर्षा होने विशेष रूप से गर्मी में अच्छी वर्षा होने का अर्थ है भारत में प्रबल मानसून का शीघ्र आगमन।

यद्यपि बाद में यह पाया गया कि इनमें से कुछ कारकों और आगामी मानसून की बीच कोई स्पष्ट संबंध नहीं है परंतु यह मानना होगा कि वाकर ने इस विषय में बहुत विलक्षण कार्य किया था। उन्होंने इस संबंध में वर्षों तक जानलेवा गणनाएं और परिकलन किए थे और वे भी बिना कम्प्यूटर के। यदि उनको कम्प्यूटर तथा अन्य आधुनिक यंत्रों की सुविधाएं उपलब्ध होतीं तब वे निश्चय ही वे इनसे कहीं बेहतर नतीजे प्राप्त करने में सफल हो जाते। वे कारकों का अवश्य पता लगा लेते जो प्रबल मानसून के आगमन के सूचक हो सकते हैं।

गिलबर्ट वाकर के बाद भी भारतीय मौसमवैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में अध्ययन जारी रखे और आज भी वे इस विषय में अध्ययनरत हैं। इनके फलस्वरूप अब मानसूनों के बारे में अधिक सही पूर्वानुमान लगाए जा सकते हैं। आजकल भारतीय मौसमवैज्ञानिक देश के दक्षिणतम भाग में गर्मी की मानसून

पवन के आगमन और संपूर्ण देश में जून के आरंभ से लेकर मध्य सितंबर तक होने वाली वर्षा की मात्रा का अनुमान लगाने हेतु समाश्रयण समीकरणों (रिग्रेशन इक्वेशन्स) का उपयोग करते हैं। आजकल मानसून के आगमन का पूर्वानुमान लगाने हेतु निम्न सूचकों का उपयोग किया जाता है :

(1) जनवरी के महीने में दिल्ली के ऊपर, 300 मिलीबार ऊंचाई पर, पवन के बहने की औसत दिशा;

(2) उत्तरी आस्ट्रेलिया के शहर डारविन के ऊपर 200 मिलीबार ऊंचाई पर जनवरी मास में पवन के बहने की दिशा।

(3) फरवरी मास में तिरुअनंतपुरम और चेन्नई के ऊपर 200 मिलीबार ऊंचाई पर पवन के बहने की दिशा।

(4) पिछले वर्ष दिसंबर मास में कलकत्ता के ऊपर 200 मिलीबार ऊंचाई पर पवन का औसत याम्योत्तर घटक (मेरीडिओनल कोम्पोनेंट)।

इन सूचकों का उपयोग करके भारत के दक्षिणतम छोर पर मानसून सामान्य के आगमन का काफी सही पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। आमतौर से पूर्वानुमान और सामान्य मानसून के वास्तविक आगमन में लगभग 8 दिन का अंतर पाया गया है। परन्तु किसी-किसी वर्ष मानसून का आगमन असामान्य रूप से देरी से होता है।

जून के आरंभ से लेकर सितंबर के मध्य तक पूरे देश में होने वाली वर्षा की मात्रा का अनुमान लगाने के लिए दो प्रकार के सूचक इस्तेमाल किए जाते हैं - एक प्रकार के सूचक उत्तर-पश्चिम भारत के लिए और दूसरी प्रकार के भारतीय प्रायद्वीप के लिए। उत्तर-पश्चिम भारत के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले सूचक हैं :

(1) अप्रैल मास में अर्जेन्टाइना के ब्यूनस आयर्स शहर का वायु दाब;

(2) अप्रैल मास में लगभग 12° उत्तर अक्षांश पर 75° पूर्व देशांतर के साथ, 500 मिलीबार ऊंचाई पर, वायु दाब की औसत स्थिति।

(3) सेशल्स, जकार्ता और डारविन पर मई मास में औसत भूमध्यरेखिक दाब।

(4) अप्रैल के महीने में लुधियाना का औसत ताप।

गर्मी की मानसून से भारतीय प्रायद्वीप पर होने वाली वर्षा की मात्रा का पूर्वानुमान लगाने के लिए निम्न सूचकों का उपयोग किया जाता है :

(1) अप्रैल और मई महीने में दक्षिण अमेरिका के ब्यूनस आयर्स, कोरडोबा और सैंटीआगो शहरों पर वायु दाबों में सामान्य दाबों की तुलना में घट-बढ़।

(2) अप्रैल मास में 12° उत्तर और 75° पूर्व देशांतर के साथ 300 मिलीबार ऊंचाई पर वायु का दाब।

(3) जैसलमेर, जयपुर और कलकत्ता शहरों के मार्च के महीने के औसत ताप।

उपर्युक्त कारकों से एक बड़े क्षेत्र में जून के आरंभ से सितंबर के मध्य तक होने वाली कुल वर्षा का मोटा पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। परंतु इन कारकों की मदद से यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि इस अवधि में हर महीने कितनी वर्षा होगी। इस कठिनाई को हल करने के लिए भारतीय मौसमविज्ञान विभाग आजकल स्वसमाश्रयण (ऑटोरिग्रेसिव) मॉडल का उपयोग करता है। पिछले कुछ

वर्षों से विभाग ने सोलह सूचकों के साथ नए समाश्रयण समीकरणों का उपयोग आरंभ कर दिया है। इस दिशा में यह दावा किया जाता है कि नए सूचकों की मदद से मानसून वर्षा का और अधिक सही अनुमान लगाया जा सकता है परंतु कुछ विशेषज्ञों का मत इससे भिन्न है।

एल नीनो

पिछले कुछ वर्षों से अखबारों में "एल नीनो" की बहुत चर्चा होती रहती है। अकसर यह कहा जाता है कि जिस सर्दी में एल नीनो घटना घटती है उसकी अगली बरसात में भारत और अफ्रीका में बहुत कम वर्षा होती है। वहां सूखा पड़ जाता है। कुछ वैज्ञानिक इन दोनों घटनाओं को - पेरू (दक्षिण अमेरिका) के तट पर सर्दियों में एल नीनो की घटना के घटने और अगली बरसात में भारत में वर्षा के बहुत कम होने को मात्र संयोग मानते हैं तो कुछ इन दोनों घटनाओं में घनिष्ठ संबंध होने पर बल देते हैं। पहले मतावलंबी कहते हैं कि पिछले 110 वर्षों के दौरान - 1875 से 1985 तक - भारत में 43 बार वर्षा सामान्य से कहीं कम हुई थी परंतु इन 43 वर्षों में केवल 19 बार ही एल नीनो की घटना घटी थी। साथ ही इन 110 वर्षों के दौरान 6 बार ऐसा भी हुआ कि जब एल नीनो आया पर अगले वर्ष भारत में वर्षा सामान्य मात्रा में ही हुई। 1997-98 में भी ऐसा ही हुआ था। दिसंबर 1997 में एल नीनो आया था पर 1998 में भारत में वर्षा सामान्य मात्रा में ही हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में होने वाली वर्षा पर एल नीनो के अतिरिक्त अन्य प्राकृतिक घटनाओं के भी प्रभाव पड़ते हैं।

वर्ष 1972 के अंत में विश्व के विभिन्न भागों में होने वाली कुछ भीषण घटनाओं ने मौसमवैज्ञानिकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। इन प्राकृतिक घटनाओं ने उन्हें यह सोचने के लिए मजबूर किया कि "क्या एक-दूसरे से हजारों किलोमीटर दूरी पर घटने वाली इन घटनाओं में आपस में कोई संबंध है?" उस वर्ष हमारे देश में मानसून कमजोर था और अफ्रीका के साहेल खेत्र में भी बहुत कम वर्षा हुई थी। साथ ही कुछ महीने पूर्व, दिसंबर के महीने में दक्षिण अमेरिका के पेरू तट - के निकट प्रशांत महासागर में एकाएक कोष्ण जल की एक धारा आ गई थी। जिस प्रकार गर्मी की मानसून से वर्षा न होने या अत्यधिक कम होने से हमारे देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सर्दी के दिनों में पेरू के तट के निकट प्रशांत महासागर में कोष्ण जल के आ जाने से भी मछलियों के बड़ी मात्रा में मर जाने अथवा किसी दूरस्थ ठंडे क्षेत्र में चले जाने से पेरू में भुखमरी की हालत पैदा हो जाती है क्योंकि पेरू की आर्थिक व्यवस्था बहुत हद तक मत्स्य उद्योग पर आश्रित है।

हर चौथे-पांचवें वर्ष भारत में मानसून कमजोर हो जाती है। उसी प्रकार हर पांच-दस वर्ष बाद पेरू के तटीय सागर में दिसंबर में कोष्ण जल की धारा आ जाती है। यदा-कदा कोष्ण जल आने की घटना को लोग "एल नीनो" कहते हैं। "एल नीनो" स्पेनिश भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है "बाल क्राईस्ट"।

एल नीनो के बारे में पेरू में, सन् 1525 से ही, लिखित प्रमाण मौजूद हैं। वैसे भूगर्भशास्त्रियों का अनुमान है कि एल नीनो की घटना पिछले कम से कम 13,000 वर्षों से घट रही है। पेरू के प्राचीन राजाओं, इंकाओं, को भी यह जानकारी थी कि एल नीनो के साथ पेरू में भीषण वर्षा भी आती है। इसीलिए उन्होंने अपने शहर पहाड़ियों की चोटियों पर बनाए थे जिससे भीषण वर्षा और बाढ़ से

उनकी रक्षा हो सके। फलस्वरूप उनकी अनेक इमारतें आज भी अच्छी हालत में खड़ी हैं। परंतु बाहरी जगत का ध्यान एल नीनो की ओर पिछले तीन दशक पूर्व ही गया।

वर्ष 1982-83 में आए एल नीनो के फलस्वरूप हुई भीषण तबाही - 2000 लोगों की मृत्यु और 500 खरब रुपए मूल्य से अधिक ही फसलों और संपत्ति की हानि - ने मौसमवैज्ञानिकों को उसके घटने के कारणों को समझने और उनके आधार पर उसके आगमन का पूर्वानुमान लगाने के प्रयासों को अधिक गंभीर और द्रुत करने के लिए मजबूर किया।

यहां यह बताना जरूरी है कि एल नीनो के घटने से यदि विश्व के कुछ भागों में बहुत अधिक वर्षा होती है तो कुछ भागों में भयंकर सूखा भी पड़ जाता है। कहीं लोग भयंकर बाढ़ों से - ऐसी बाढ़ों से जो रेगिस्तान को भी झील में बदल देती हैं - से परेशान हो जाते हैं तो कहीं भीषण दुर्मिक्ष से लोग त्राहि-त्राहि करने लगते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रीय सागरवैज्ञानिक और वायुमंडलीय प्रशासन (नेशनल ओशिआनिक एण्ड एटमॉस्फीयरिक एडमिनिस्ट्रेशन - एन.ओ.ए.ए.) के अनुसार पिछले 98 वर्षों में 23 बार एल नीनो आया (वैसे कुछ मौसमवैज्ञानिक संस्थाओं के अनुसार यह संख्या इससे काफी अधिक है)। पिछली लगभग एक शताब्दी में आए दस भीषण एल नीनो में से चार - वे चार जो कदाचित् विकरालतम थे - 1980 से 1998 के बीच आए। अंतिम एल नीनो 1997 के अंत में आया था।

समझा जाता है कि उसमें हिरोशिमा पर छोड़े गए परमाणु बम की तुलना में दस लाख गुनी अधिक ऊर्जा मुक्त हुई थी। लगभग आठ महिनों तक यह अपने प्रत्यक्ष और परोक्ष कुप्रभावों से विश्व के विभिन्न क्षेत्रों को त्रस्त करता रहा था। जब उसके कुप्रभावों के परिणामों का लेखा-जोखा तैयार किया गया तो पता चला कि 2100 से अधिक व्यक्ति हताहत हो चुके थे और कम से कम 33 खरब डालर मूल्य की संपत्ति नष्ट हो चुकी थी।

उस दौरान अत्यधिक वर्षा से केवल पेरू और इक्वेडोर में ही भयंकर बाढ़ें नहीं आयी थीं वरन् मध्य यूरोप (पोलैंड, चैक गणराज्य आदि के क्षेत्र), संयुक्त राज्य अमेरिका (कैलीफोर्निया से लेकर मिसिसिपी कछार और फ्लोरिडा तक), और मध्य अफ्रीकी देश भी वर्षा, बाढ़ और चक्रवातों से लोग त्राहि-त्राहि करने लगे थे। बाढ़ के फलस्वरूप पेरू का सेचुरा मरुस्थल भी मीलों लंबी-चौड़ी झील में बदल गया था। यद्यपि उस कृत्रिम झील में जिसे वहां के निवासियों ने "ला नीना" नाम दिया था, लोगों ने मत्स्य पालन आरंभ कर दिया था, पर वे मलेरिया के भी बुरी तरह से शिकार हो गए थे।

इसके विपरीत इंडोनेशिया, मलेशिया, मंगोलिया और ब्राजील भीषण गर्मी और सूखे के शिकार हो गए थे। इंडोनेशिया के सुमात्रा और बोर्नियो द्वीपों के वनों में लगी भीषण आग को बुझाने के लिए भी पानी उपलब्ध नहीं था। इसलिए वह आग लगातार महीनों तक जलती रही थी और उसके फलस्वरूप इंडोनेशिया को खरबों रुपए की हानि उठानी पड़ी थी। ब्राजील के 19,000 वर्ग मील में फैले वर्षा वन, आग से नष्ट हो गए थे।

यद्यपि पिछले वर्षों की घटनाओं के आधार पर अनेक लोगों ने एल नीनो के परोक्ष प्रभावस्वरूप 1998 में भारत में मानसून के कमजोर होने की - बहुत कम वर्षा होने की - आशंका प्रगट की थी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। 1997-98 में हमारे देश में वर्षा सामान्य मात्रा में ही हुई थी।

वैज्ञानिकों को वर्ष 1997-98 के एल नीनो का एक बहुत गंभीर प्रभाव ज्ञात हुआ। उसने प्रशांत

महासागर के और इस प्रकार पूरे विश्व के मौसम पैटर्न को असामान्य रूप से प्रभावित कर दिया था। वर्ष 1982-83 के एल नीनो के बाद उन घटनाओं के, विशेष रूप से प्रशांत महासागर में घटने वाली उन घटनाओं के, जो एल नीनो को आरंभ करती हैं, अध्ययन के लिए विशेष उपकरण और तकनीकें इस्तेमाल की जाने लगीं।

उष्ण कटिबंधीय वायुमंडलीय और समुद्री (टी.ए.ओ.) बॉय 'टोपेक्स' उपग्रह तथा अन्य अनेक उपकरणों की मदद से किए गए अध्ययनों से अब मौसमवैज्ञानिकों को सागर में होने वाले उन परिवर्तनों के बारे में जिनके फलस्वरूप एल नीनो उत्पन्न होता है काफी जानकारी हो गई है।

कारण : आमतौर से भूमध्यरेखिक प्रशांत महासागर की जलवायु एक सामान्य पैटर्न का पालन करती है। सूर्य की गर्मी से इस महासागर में आस्ट्रेलिया और इंडोनेशिया के आसपास के क्षेत्रों का जल काफी गर्म हो जाता है। इससे उसके ऊपर की वायु का ताप भी काफी बढ़ जाता है और वह बहुत बड़ी मात्रा में ऊपर उठने लगती है। पाश्चात्य उस क्षेत्र में वायु दाब कम हो जाता है। ऊपर उठने वाली कोष्ण वायु में नमी की काफी मात्रा होती है जो अंततः उसी क्षेत्र में वर्षा के रूप में लौट आती है।

जल वाष्प से मुक्ति पाकर, सूखी हो जाने पर, यह वायु और ऊपर उठ जाती है, वहां उसे वायुमंडल के ऊपरी क्षेत्र में बहने वाली पवन इसे पूर्व की ओर अमेरिका के तट की ओर, ले जाती है। अपनी इस यात्रा के दौरान यह और ठंडी तथा भारी हो जाती है। जब यह अमेरिका के पश्चिमी तट पर उतरती है तब तक काफी ठंडी और भारी हो चुकी होती है। इससे सागर की सतह पर उच्च दाब बन जाता है और वहां से यह वायु, व्यापारी पवन के रूप में, कम दाब वाले क्षेत्र—आस्ट्रेलिया और इंडोनेशिया—की ओर वापिस जाने लगती है। पर इस बार वह अपेक्षाकृत कम ऊंचाई पर बहती है। इस प्रकार पवन का एक चक्र बन जाता है जिसमें ऊपरी वायुमंडल में वह पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है और निचले वायुमंडल में पूर्व से पश्चिम की ओर। यह चक्र "वाकर चक्र" कहलाता है। गिलबर्ट वाकर ने इस चक्र के बारे में 1920 में घोषणा की थी।

प्रशांत महासागर के ऊपर से पूर्व से पश्चिम की ओर बहती हुई व्यापारी पवन महासागर के पानी की ऊपरी लगभग 150 मीटर मोटी कोष्ण परत को भी अपने साथ इंडोनेशिया तक ले जाती है। वहां इस परत का पानी इकट्ठा होता रहता है उस क्षेत्र में गर्मी के कारण भी, पानी फैलकर ऊपर उठता रहता है। इस प्रकार इंडोनेशिया के आसपास के क्षेत्र में सागर की सतह ऊपर उठ जाती है। वह मेक्सिको के तट की सागर की सतह की तुलना में लगभग 45 सेमी. तक ऊंची हो जाती है।

इससे पूर्वी प्रशांत महासागर के तटों पर विशेष रूप से पेरू और इक्वेडोर के तटीय क्षेत्र में पानी की कमी हो जाती है। उसकी पूर्ति के लिए सागर के गहरे भागों से ठंडा पानी सतह की ओर आने लगता है। इस प्रकार उत्सवण की क्रिया आरंभ हो जाती है। गहराइयों से सतह पर आने वाला पानी पोषक पदार्थों से भरपूर होता है। इससे वहां बहुत बड़े पैमाने पर मछलियां आने लगती हैं। इस प्रकार पेरू का तट संसार की एक विशाल और महत्वपूर्ण मात्स्यिकी बन गया है।

अब हर चार-पांच वर्ष बाद कुछ कारणों से, जिनके बारे में वैज्ञानिकों को अब तक सही और पूर्ण जानकारी नहीं है, व्यापारी पवन बहुत कमजोर पड़ जाती है। कभी-कभी तो उनका बहना एकदम बंद हो जाता है। उस समय वायुदाब का सामान्य पैटर्न एकदम उलट कर दक्षिणी दोलन में परिवर्तित

हो जाता है। उस समय आस्ट्रेलिया और इंडोनेशिया के आसपास वायु का दाब मध्य प्रशांत महासागर के ऊपर की वायु के दाब की तुलना में काफी ऊंचा हो जाता है। उस समय वायु दाब का जो पैटर्न बनता है, “वह एल नीनो दक्षिणी दोलन” (एल नीनो सद्वर्न ओसिलेशन – ई.एन.एस.सो – एनसो) कहलता है। यद्यपि यह पैटर्न पृथ्वी की परिधि के केवल पांचवे भाग में ही बनता है परंतु वह संपूर्ण पृथ्वी के मौसम को प्रभावित कर देता है।

यह निश्चित है कि पूर्वी प्रशांत महासागर के ऊपर कम ऊंचाई पर पूर्व से पश्चिम की ओर बहने वाली व्यापारी पवनों की अनुपस्थिति में प्रशांत महासागर की ऊपरी सतह का पानी पश्चिम की ओर नहीं जा पाता। इस स्थिति में वह अपने ही स्थान पर रहा आता है। उस समय उत्सवण क्रिया अत्यंत मंद पड़ जाती है या रुक जाती है अर्थात् सागर में गहराई से सतह की ओर पानी बहुत कम मात्रा में आता है अथवा बिल्कुल नहीं आता।

ऐसा हो जाने पर सागर की सतह का पानी धीरे-धीरे गर्म होता रहता है और फैलता रहता है। इससे कुछ समय बाद ऐसी स्थिति आ जाती है कि उसके ऊपर स्थित वायु गर्म होकर वायुमंडल के ऊपरी भाग में पहुँच जाती है। ऐसा हो जाने पर ऊपरी वायुमंडल में मौजूद वाष्प द्रवीभूत होकर उत्तर और दक्षिण अमेरिकाओं के पश्चिमी तटों पर, मूसलाधार वर्षा के रूप में बरसने लगती है।

वर्ष 1997-98 के दौरान आए एल नीनो के दौरान दक्षिण अमेरिका के पश्चिमी तट के कुछ क्षेत्रों में सागर की सतह का ताप 30° से. तक बढ़ गया था और उसका स्तर 25 सेमी. से भी ऊंचा उठ गया था।

परिणाम : उत्सवण क्रिया के मंद पड़ जाने अथवा रुक जाने का अर्थ होता है सागर की गहराई से पोषक पदार्थ युक्त जल का ऊपर आना बंद हो जाना और सतह के जल में पोषक पदार्थों की कमी हो जाना। जब सतह के जल में पोषक पदार्थों की कमी हो जाती है तब मछलियों, विशेष रूप से एंकोवी मछलियों के झुंडों का, जो सामान्यतः परू और इक्वेडोर के तटीय सागर में निवास करते हैं, अधिक शीतल और अधिक पोषक जल की तलाश में दक्षिण या उत्तर की ओर चल पड़ना जरूरी हो जाता है। शीतल और पोषक जल उन्हें चिली या केलीफोर्निया के तटों पर मिलते हैं। इसलिए वे वहां ही रुक जाते हैं।

सामान्यतः कोष्ण जल में रहने वाली मछलियां यथा मरलिन, बोनिटो, एल्वाकोर ट्यूना आदि उत्तर की ओर चली जाती हैं। इस प्रकार परू और इक्वेडोर के मछुआरों की हानि चिली, केलीफोर्निया आदि के व्यापारियों के लिए लाभकारी सिद्ध हो जाती है।

एल नीनो उस वर्षा को जो साधारणतः प्रशांत महासागर के पश्चिमी भाग पर होती है, उत्तर और दक्षिण अमेरिकाओं की ओर आकर्षित कर लेता है। फलस्वरूप आस्ट्रेलिया, इंडोनेशिया और भारत में पर्याप्त वर्षा नहीं हो पाती और वे सूखे के शिकार हो जाते हैं। इसीलिए कुछ मौसमवैज्ञानिक एल नीनो को भारत में “भावी अनावृष्टि का सूचक” मानने लगे हैं। अफ्रीका के लिए भी वे एल नीनो को “अशुभ” मानते हैं क्योंकि उसके फलस्वरूप हिंद महासागर के दक्षिण-पश्चिमी भाग का ताप कम हो जाता है। वहां वायु का दाब और बढ़ जाता है जिससे अफ्रीका के पूर्वी और दक्षिणी भागों पर होने वाली वर्षा में कमी आ जाती है।

इसी दौरान उत्तर अमेरिका में उत्तर ध्रुव से दक्षिण की ओर बहने वाला जेट प्रवाह कनाडा के

उत्तरी भाग तक ही सीमित रह जाता है। वह संयुक्त राज्य अमेरिका तक नहीं जा पाता। इससे सर्दी की ऋतु में संयुक्त राज्य अमेरिका का उत्तरी भाग भी अपेक्षाकृत कोष्ण रहा आता है। समझा जाता है कि 1997-98 के एल नीनो की वजह से संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी प्रांतों में सर्दी में घरों आदि को गर्म करने की जरूरत नहीं पड़ी थी जिससे लगभग 5 अरब डालर की बचत हो गई थी। इस प्रकार वह एल नीनो संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ था।

एल नानो के दौरान ऊपरी वायुमंडल की उष्ण कटिबंधीय पवन के अपनी दिशा बदल देने से – विपरीत दिशा में बहना आरंभ कर देने से – मध्य अंध महासागर में बनने वाले चक्रवात मंद पड़ जाते हैं और अधिकांश हरीकेन तथा टोरनेडो पैदा ही नहीं हो पाते।

ला नीना

एल नीनो के आगमन का पूर्वानुमान लगाने और उसके बारे में पूर्वसूचना देकर उसके संभावित दुष्प्रभावों के प्रति लोगों को आगाह करने के प्रयत्नों की चर्चा करने से पहले एल नीनो के सहोदर 'ला नीना' के बारे में कुछ बताना बदतर होगा। ला नीना उसका ऐसा सदोहर है जो एल नीना के बाद अक्सर आता है पर उसके प्रभाव एल नीनो के एकदम विपरीत होते हैं। अगर एल नीनो पेरू के तट पर जल को अपेक्षाकृत गर्म कर देता है तो वह वहां के जल को ठंडा कर देता है। जहां एल नीनो भयंकर वर्षा करता है, वहां ला नीना सूखा ला देता है और जहां एल नीनो की वजह से अनावृष्टि रहती है, वहां ला नीना बहुत बारिश करता है।

भौतिकशास्त्र के विद्यार्थी हमें बताते हैं कि प्रकृति में एक सार्वभौमिक नियम सदैव कार्यरत रहता है। इस नियम के अनुसार हर क्रिया के लिए विपरीत दिशा में परंतु समान मात्रा में एक प्रतिक्रिया होती है। इसलिए एल नीनो के बाद ही ला नीना आता है। यद्यपि मौसमवैज्ञानिकों को ला नीना के बारे में इतनी जानकारी नहीं है जितनी एल नीनो के बारे में परंतु पिछले 17 वर्षों में सन् 1982 से लेकर 1999 तक, एल नीनो के आगमन के बाद चार बार ला नीना आ चुका है। वैसे पिछले 98 वर्षों में ला नीना का आगमन 15 बार हो चुका है। इसके फलस्वरूप उन क्षेत्रों में जहां एल नीनो की अति वृष्टि ने त्राहि मचा दी थी, वहां ला नीना ने सूखे की स्थिति उत्पन्न कर दी और जहां एल नीनो ने सुखद मौसम ला दिया था, वहां ला नीना ने विषम परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं। पर दोनों – एलनीनो और ला नीना – में एक समानता भी है। दोनों के प्रभाव दिसंबर से लेकर मार्च तक ही प्रबल रहते हैं।

ला नीना के आगमन से पहले अमेरिका से आने वाली पूर्वी पवनें सामान्य से अधिक प्रबल हो जाती हैं। वे पूर्वी प्रशांत महासागर के कोष्ण जल को अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पश्चिम की ओर बहा ले जाती हैं। इससे सागर की गहराइयों से अधिक मात्रा में ठंडा पानी ऊपर आने लगता है और यह पानी भूमध्यरेखा के निकट के क्षेत्र में इक्वेडोर से समोआ तक, लगभग 3000 किमी. दूरी तक जीभ के आकार में फैल जाता है।

व्यापारी पवनों द्वारा प्रशांत महासागर के पूर्वी भाग से बहाकर लाया गया कोष्ण जल उस महासागर के पश्चिमी भाग में जमा हो जाता है। इससे उस भाग में वायु दाब कम हो जाता है और ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे भारत में मानसून अपेक्षाकृत अधिक प्रबल हो जाती है तथा आस्ट्रेलिया

और अफ्रीका में अधिक पानी बरसता है। प्रशांत महासागर के ऊपर बहने वाला जेट प्रवाह, जो ऊपरी वायुमंडल में वायु को पश्चिम से पूर्व की ओर ले जाता है अपना मार्ग बदल देता है।

उत्तर ध्रुव से आने वाला जेट प्रवाह जो एल नीनो के कारण कनाडा के उत्तरी भाग में ही रुक जाता है अब दक्षिण की ओर काफी दूर तक आ जाता है। इससे संयुक्त राज्य अमेरिका का मध्य भाग भी काफी ठंडा हो जाता है। इसी प्रकार एल नीनो के दौरान मेक्सिको के ऊपर बहने वाला प्रबल जेट प्रवाह ला नीना की वजह से कमजोर पड़ जाता है। फलस्वरूप मेक्सिको की खाड़ी के आसपास के क्षेत्र में वर्षा की मात्रा काफी कम हो जाती है। उत्तर अमेरिका के दक्षिण-पश्चिम में स्थित मरुस्थल में सूखा पड़ जाता है।

ला नीना के फलस्वरूप अंध महासागर में उत्पन्न होने वाले हरिकेनों को रोकने के लिए पश्चिमी पवनें मौजूद नहीं होती। इसलिए उनकी प्रबलता और संख्या बढ़ जाती है। दिसंबर 1998 के ला नीना के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका को इतने प्रबल हरिकेनों का सामना करना पड़ा था जितना पिछली दो शताब्दियों में कभी भी नहीं करना पड़ा था।

पूर्वानुमान

वैज्ञानिकों ने मौसम संबंधित अन्य घटनाओं की भांति एल नीनो और ला नीनो के आगमन के पूर्वानुमान लगाने के भी प्रयत्न किए हैं। इनमें उन्हें यह पता चला कि ला नीना की तुलना में एल नीनो का पूर्वानुमान लगाना अधिक सरल होता है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि उनके पास पिछले वर्षों में आए एल नीनो के बारे में अपेक्षाकृत कहीं अधिक जानकारीयाँ हैं। 1982-83 में आए एल नीनो ने, जिसके आगमन के बारे में वैज्ञानिकों ने कोई पूर्वानुमान नहीं लगाया था, अनुमान से पहले ही कहार ढाना शुरू कर दिया था। उस एल नीनो के दौरान वे सागर सतह के पानी का ताप अथवा अन्य माप ले पाते उससे पहले ही वह अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। इसलिए यह निश्चय किया गया कि भूमध्यरेखिक प्रशांत महासागर के बारे में निरंतर जानकारी प्राप्त करते रहने हेतु बाँयों, उपग्रहों तथा अन्य आधुनिकतम उपकरणों का उपयोग आरंभ किया जाए।

धीरे-धीरे इन उपकरणों तथा अन्य उपायों से वैज्ञानिकों को इतनी जानकारी उपलब्ध हो गई कि वे 1997-98 में आए एल नीनो के बारे में काफी हद तक सही पूर्वानुमान लगा सके। उन्होंने उस एल नीनो के वास्तविक आगमन से महीनों पहले ही संभावित बाढ़ों और सूखे के अनुमान लगा लिए थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रीय समुद्री और वायुमंडलीय प्रशासन ने अप्रैल 1997 में ही यह घोषणा कर दी थी कि उस वर्ष दिसंबर में एल नीनो आ सकता है। उसके लगभग एक महीने बाद आस्ट्रेलिया और जापान के मौसमवैज्ञानिकों ने भी ऐसी ही घोषणा की। इनमें उन्होंने अनेक क्षेत्रों पर आगामी एल नीनो के संभावित कुप्रभावों की भी विस्तृत चेतावनी दी थी।

इन पूर्वानुमानों में से अधिकांश सही निकले परंतु भारत और अफ्रीका में अनावृष्टि के बारे में लगाए गए पूर्वानुमान गलत साबित हुए। 1997-98 के एल नीनो के दौरान केन्या (पूर्वी अफ्रीका) में इतना पानी बरसा कि लोग त्राहि-त्राहि कर उठे। वहां लगातार कई दिनों तक मूसलाधार वर्षा होने के कारण जगह-जगह पानी भर गया। फलस्वरूप "रिफ्ट वैली ज्वर" तथा डेंगू ज्वर महामारी के रूप में फैल गए।

वैसे अनेक क्षेत्रों में उक्त पूर्वसूचनाओं से लोगों को बहुत लाभ हुआ। पेरू में किसानों ने उन इलाकों पर धान और बीन बो दीं जहां पानी की कमी के कारण सामान्यतः ये पैदा नहीं होती हैं। उन मरुस्थली इलाकों में, जहां कुछ भी पैदा नहीं होता था, वहां वर्षा की आशा में किसानों ने घास बो दी। मछुआरों ने एंकोवी मछलियों की संभावित कमी को पूरा करने हेतु झींगों की खेती करने की योजना तैयार कर ली।

इस आशा से कि एल नीनो के कारण ब्राजील में सूखा पड़ेगा जिसके फलस्वरूप वहां पर्याप्त फसल नहीं होगी, केन्या के किसानों ने काफी उत्पादन बढ़ाने की एक बृहत योजना बना ली। आमतौर से एल नीनो के दौरान फिलीपीन का पाम ऑयल उत्पादन घट जाता है। इस आशा में अन्य पाम ऑयल उत्पादक देशों ने अपने माल का उत्पादन बढ़ाने और बेचने की योजनाएं बना लीं।

इसी प्रकार आगामी एल नीनो के संभावित दुष्प्रभावों से अधिक से अधिक बचाव करने हेतु पेरू ने बाढ़ के पानी को जल्दी से जल्दी निकालने हेतु नालियों का निर्माण कर लिया था और पर्याप्त मात्रा में अन्न भंडारित कर लिया था। एल नीनो के फलस्वरूप अपने यहां अकाल पड़ जाने की आशंका से पुपुआ (न्यू गिनी) ने काफी पहले से ही अन्य देशों से सहायता मांगनी आरंभ कर दी थी। इसी प्रकार अन्य अनेक देशों ने भी संभावित बाढ़ या सूखे का मुकाबला करने के लिए पहले से ही तैयारियां आरंभ कर दी थीं।

यद्यपि अभी वैज्ञानिकों को एल नीनो और ला नीना के बार-बार आगमन के कारणों के बारे में पूर्ण और सही जानकारी नहीं है परंतु सब वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि पिछली एक शताब्दी में एल नीनो और ला नीना धीरे-धीरे अधिक प्रबल और गर्म होते जा रहे हैं।



अध्याय नौ

क्या मनुष्य मौसम को बदल रहा है?

अपनी प्रगति के नशे में चूर मनुष्य कभी-कभी प्राकृतिक व्यवस्था में अपनी इच्छानुसार दखलंदाजी (गलत) करने के प्रयत्न भी करने लगता है। अपनी सफलताओं के घमंड से प्रेरित वह मौसम को नियंत्रित करने की बात भी सोचने लगता है।

मौसम को नियंत्रित करने के उसके प्रयास सफल नहीं हुए और न ही कभी सफल होंगे। पर मनुष्य ने अपनी गलत करतूतों से अपने और अन्य जीवों के जीवन को अधिक दुखी बना दिया है। आज वायुमंडल में हानिकारी गैसों की मात्राएं बढ़ रही हैं। फलस्वरूप वायुमंडल के ताप में वृद्धि हो रही है।

प्रकृति के करोड़ों वर्षों के प्रयत्नस्वरूप बने कोयले, पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस भंडारों का अंधाधुंध उपयोग करके मनुष्य ने औद्योगिक क्रांति तो ला दी परंतु उसके लाभांश के रूप में उसे भयंकर प्रदूषण भी मिला।

प्रदूषण के विशेष रूप से मानव निर्मित प्रदूषण के फलस्वरूप पृथ्वी की जलवायु में होने वाले परिवर्तनों की और वैज्ञानिकों ने पहली बार 1980 के दशक में गंभीरता से सोचना आरंभ किया था। फलस्वरूप विश्व जलवायु अनुसंधान कार्यक्रम (वर्ल्ड क्लाइमेट रिसर्च प्रोग्राम) ने 1988 में जलवायु परिवर्तन के अध्ययन हेतु एक अंतरासरकारी आयोग का गठन किया। इस आयोग का उद्देश्य वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों की सांद्रताओं में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप जलवायु में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करना था। इस आयोग ने जनरल सरकुलेशन मॉडल की नई तकनीक का उपयोग करके जो नतीजे प्राप्त किए, वे काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। उनके अनुसार पिछले कुछ दशकों से वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों की मात्राओं में निरंतर वृद्धि हो रही है जिसके परिणामस्वरूप वायुमंडल का औसत ताप बढ़ रहा है।

वैसे इस प्रकार के अध्ययन विश्व की अनेक प्रयोगशालाओं और वेधशालाओं में हो रहे हैं। इन अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों की मात्राएं निरंतर बढ़ती जा रही हैं। बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप पिछले कुछ दशकों में इस वृद्धि की दर इतनी अधिक हो गई है कि वैज्ञानिकों के लिए ही नहीं, वरन् आम आदमी के लिए भी चिंता का विषय बन गई है।

ग्रीनहाउस प्रभाव

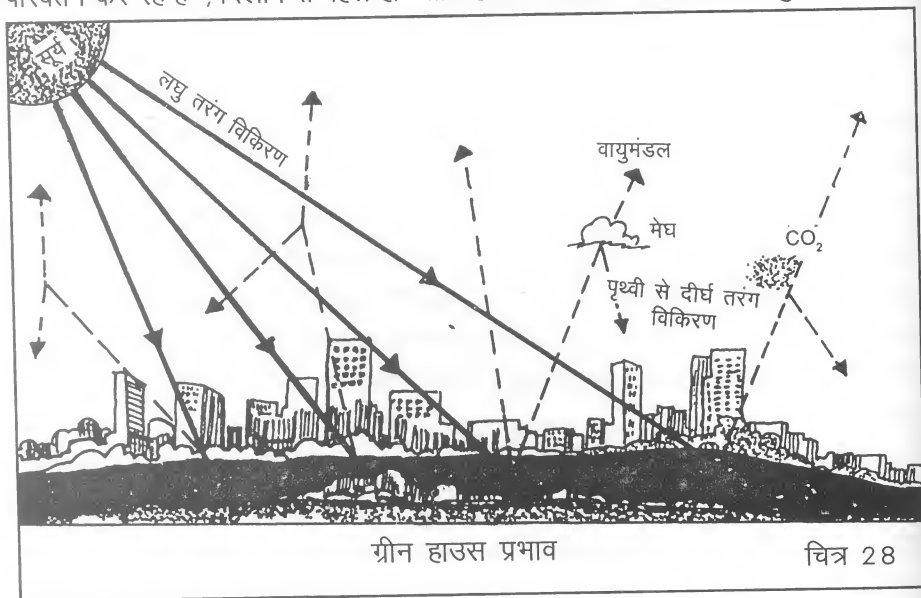
ग्रीनहाउस प्रभाव के संभावित दुष्परिणामों के बारे में इतनी चर्चाएं हुई हैं कि अनेक लोगों को यह भ्रांति होने लगी है कि वह बहुत ही हानिकारी प्रभाव है। परंतु तथ्य ऐसा नहीं है। वह पृथ्वी के जीव-जंतुओं के लाभकारी

प्रभाव है। वास्तव में ग्रीनहाउस प्रभाव के फलस्वरूप ही पृथ्वी पर जीवन इतनी विविधता और प्रचुरता से संभव हो सका है। पर हर लाभदायक वस्तु / प्रभाव के एक चरम सीमा तक पहुंचने के बाद वह हानिकारी हो जाती है। इसी प्रकार ग्रीनहाउस प्रभाव भी आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली हो जाने पर हानिकारी हो जाता है।

ग्रीनहाउस कांच से बना ऐसा 'घर' होता है जिसमें शीत प्रदेशों में भी उष्ण कटिबंधों के पेड़-पौधे पैदा किए जा सकते हैं। इन घरों में सौर ऊर्जा प्रविष्ट तो आसानी से हो जाती है परंतु परावर्तित होकर वह बाहर नहीं निकल पाती। कांच की दीवारें बाहर जाने वाली ऊष्मा-ऊर्जा को परावर्तित करके पुनः वापस भेज देती हैं।

सबसे पहले फ्रेंच गणितज्ञ जां फूरिए (Jean Fourier) ने 1822 में यह सुझाया था कि पृथ्वी के वायुमंडल की तुलना ग्रीनहाउस से की जा सकती है। हमारा वायुमंडल सूर्य की किरणों को धरती की ओर भेज कर मृदा, पानी, पेड़-पौधों और वायु को गरमा तो रहता है परंतु धरती से अंतरिक्ष की ओर परावर्तित होने वाली ऊष्मा पर रोक लगा देता है। यदि हमारा वायुमंडल इस प्रकार व्यवहार न करता तब पृथ्वी को औसत ताप 15° सें. न होकर बहुत नीचा (-18° सें. जैसा नीचा) हो जाता। उस समय पृथ्वी पर कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह पाता। वह निर्जीव हो जाती।

इस बारे में विचित्र बात यह है कि वर्ष 1938 में ब्रिटिश इंजीनियर जी.सी. कैलेन्डार द्वारा लोगों का ध्यान इस बात की ओर कि "हम (मनुष्य) अपनी प्रगति की भूल-भुलैया में ग्रीनहाउस प्रभावों में परिवर्तन कर रहे हैं", दिलाने से पहले ही "ग्रीन हाउस" नाम काफी प्रचलित हो चुका था।



पृथ्वी के वायुमंडल में ग्रीनहाउस प्रभाव पैदा करने वाले प्रमुख कारक हैं जल, वाष्प, कार्बन डाइऑक्साइड और ओजोन। ये तीनों प्राकृतिक कारक हैं और करोड़ों-अरबों वर्षों से अपने कार्य-पृथ्वी से परावर्तित होकर अंतरिक्ष की ओर, दीर्घ तरंगों के रूप में, जाने वाली ऊष्मा ऊर्जा को पुनः धरती की ओर परावर्तित करने का कार्य - करते रहे हैं। पर बढ़ते हुए औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप

पिछले कुछ दशकों में इन कारकों में मीथेन, नाइट्रस आक्साइड और हैलोजनित (हैलोजेनेटेड) हाइड्रोकार्बन जैसी गैसों भी शामिल हो गई हैं। परंतु ये मानवजन्य कारक, प्राकृतिक कारकों से कहीं अधिक प्रबल प्रमाणित हो रहे हैं।

जलवाष्प : यद्यपि जलवाष्प ग्रीनहाउस प्रभाव उत्पन्न करने वाली एक प्रमुख कारक है परंतु वायुमंडल में, प्राकृतिक कारणों के फलस्वरूप, इसकी मात्रा संतुलित रहती है। इस बारे में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यदि कार्बन डाइआक्साइड, मीथेन, नाइट्रस आक्साइड, हैलोजनित हाइड्रोकार्बनों के कारण जलवायु गर्म होने लगती है तब वायुमंडल में जलवाष्प की मात्रा बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप वायुमंडल और अधिक (1.6 गुना अधिक) गर्म हो जाता है।

कार्बन डाइआक्साइड : वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड बहुत कम मात्रा में, आमतौर से दस हजार भाग में 3.5 भाग जैसी कम मात्रा में मौजूद होती है और अधिकांश व्यक्ति इसे जंतुओं के लिए हानिकारी समझते हैं। परंतु यह पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व के लिए बहुत आवश्यक है। वैज्ञानिकों के अनुसार यदि वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड न होती तब पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व ही न होता।

यद्यपि वायुमंडल में कुछ प्राकृतिक कारणों से भी कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है पर हम अपने क्रियाकलापों, विशेष रूप से औद्योगिक क्रियाकलापों से, कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा में तेजी से वृद्धि कर रहे हैं। हिमनदियों की बर्फ का विश्लेषण करने से पता चला है कि अंतिम हिमयुग के दौरान, आज से लगभग 20,000 वर्ष पूर्व वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा केवल 1.9 से 2.00 भाग प्रति दस हजार भाग थी। अब उस समय पृथ्वी की तुलना में लगभग 9° से ठंडी थी। आज से लगभग 150 वर्ष पहले तक कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा लगभग 2.80 भाग प्रति दस हजार भाग थी; आज वह लगभग 3.5 है और यदि हम भविष्य में भी हम उसी "बुद्धिहीनता" से जीवनयापन करते रहे जिससे आज कर रहे हैं, तब 21 वीं शताब्दी के मध्य तक वह बढ़कर 5.50 या 6.00 भाग प्रति दस हजार भाग हो जाएगी।

इस संबंध में सनसनीखेज तथ्य यह है कि औद्योगिक रूप से पैदा होने वाली कार्बन डाइआक्साइड का 95 प्रतिशत भाग उत्तरी गोलार्द्ध से आता है। इसी कारण उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के वायुमंडलों में इसकी मात्राएं भिन्न-भिन्न हैं। उत्तरी ध्रुव क्षेत्र में दक्षिणी ध्रुव क्षेत्र की तुलना में लगभग 2.8 से 3.6 भाग प्रति दस लाख भाग कार्बन डाइआक्साइड अधिक है और यह अंतर तेजी से लगभग 0.13 भाग प्रति दस लाख भाग प्रति वर्ष की दर से बढ़ रहा है।

पिछले कुछ दशकों में उष्ण कटिबंधों में वनों की कटाई बहुत तेजी से हुई है। इसलिए उष्ण कटिबंधों में, मध्य और उच्च अक्षांशों की तुलना में, वायुमंडल में कहीं अधिक मात्रा में (लगभग 2.3 गुनी मात्रा में) कार्बन डाइआक्साइड मौजूद है।

यद्यपि पेड़-पौधे बड़ी मात्रा में कार्बन डाइआक्साइड का उपयोग करते रहते हैं और सागर का पानी भी उसे बहुत बड़ी मात्रा में अपने में घोलता रहता है परंतु इस औद्योगिक युग में हम उसे इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न कर रहे हैं कि ये दोनों कारक भी वायुमंडल में उसकी मात्रा को बढ़ने से रोक नहीं पा रहे हैं।

उन मानवीय क्रिया-कलापों में जिनसे वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा में तेजी से

वृद्धि हो रही है, प्रमुख हैं कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस जैसे जीव ईंधनों को बड़ी मात्रा में जलाना तथा जंगलों की कटाई।

ग्रीनहाउस प्रभाव का प्रश्न है, जलवाष्प के बाद सबसे अधिक प्रभाव कार्बन डाइआक्साइड ही उत्पन्न करती है। अन्य सब मानवजन्य कारक मिलकर जलवायु को जितनी मात्रा में उष्णतर बना रहे हैं, अकेली कार्बन डाइआक्साइड उतनी ही मात्रा में यह कार्य कर रही है। इसीलिए ग्रीनहाउस प्रभाव को मापने के लिए उसे ही मानक माना जाता है।

वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड के अणु बिना विघटित हुए 100 वर्षों तक रह सकते हैं।

मीथेन : मीथेन एक ज्वलनशील गैस है जो आक्सीजनरहित वातावरण में जैविक पदार्थों पर बैक्टीरियाओं की क्रिया के फलस्वरूप बनती है। दलदलमय क्षेत्र, वे गढ़वे जिन्हें घरेलू कूड़ा-कंकट डालकर भरा जाता है और पानी से भरे धान के खेत, इसके प्रमुख उत्पादन क्षेत्र हैं। परंतु यह गैस झिलिंग में बायोमास के जलने से, कोयले की खानों में दीमक की क्रियाओं से और यहां तक कि पशुओं की आंतों में भी पैदा हो जाती है। वे ही बैक्टीरिया जो गाय-भैंस के शरीर में घास को दूध या मांस में बदलते हैं, उसकी आंतों में बनने वाली मीथेन को शरीर से बाहर निकालते हैं। एक गाय प्रति दिन औसतन 14 घन फुट मीथेन अपने शरीर से बाहर निकालती है।

विश्व में धान की खेती तेजी से बढ़ रही है और उसके साथ ही बढ़ रही है वायुमंडल में मीथेन की मात्रा। इस मात्रा में एक अन्य स्रोत 'पशुधन' भी तेजी से वृद्धि कर रहा है। आज विश्व में पशुओं की संख्या में वृद्धि मानव जनसंख्या में वृद्धि से कहीं अधिक है।

मौसमवैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि सब स्रोतों से वायुमंडल में प्रतिवर्ष 505 खरब टन मीथेन की वृद्धि हो रही है। इसमें मानव जन्य स्रोतों का योग 15 से 20 प्रतिशत तक है परंतु इसमें से लगभग 430 खरब टन मीथेन वायुमंडल में उपस्थित हाइड्रोक्लोरिक एसिड आयनों के साथ क्रिया करने में और 30 खरब टन मृदा द्वारा अवशोषित कर लिए जाने के फलस्वरूप खर्च हो जाती है। इस प्रकार वायुमंडल में हर वर्ष केवल 45 खरब टन मीथेन की ही वृद्धि हो रही है।

यदि आयतन की शब्दावली में कहें तब आजकल भी वायु के दस हजार भाग में मीथेन केवल 0.0172 भाग ही उपस्थित है परंतु पृथ्वी के हर क्षेत्र में उसकी सांद्रता एकसमान नहीं है। उत्तरी गोलार्द्ध के वायुमंडल में उसकी मात्रा 0.0176 भाग प्रति दस हजार भाग है और दक्षिण गोलार्द्ध में 0.0168 भाग। सन् 1750 से 1800 के बीच के काल में उसकी मात्रा वायु के दस हजार भागों में मात्र 0.0079 भाग ही थी।

इस प्रकार पिछले लगभग 200 वर्षों में वह दुगुनी से भी अधिक हो गई है। अवरक्त सौर वर्णक्रम के विश्लेषणों से ज्ञात हुआ है कि पिछले लगभग 40 वर्षों में उसकी मात्रा में 30 प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि हुई है।

यद्यपि कार्बन डाइआक्साइड की तुलना में, वायुमंडल में मीथेन की मात्रा बहुत कम है परंतु उसकी ग्रीनहाउस प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता कार्बन डाइआक्साइड की तुलना में लगभग 21 गुनी है। परन्तु इस प्रभाव को उत्पन्न करने में उसका योग, कार्बन डाइआक्साइड के 50 प्रतिशत की तुलना में 15 प्रतिशत ही है।

वायुमंडल में मीथेन के अणु बिना विघटित हुए 8 से 11.8 वर्षों तक रहे आते हैं।

ओजोन : विद्युत विसर्जन (इलेक्ट्रिक डिस्चार्ज) जैसी क्रियाओं में बनने वाली ओजोन धरती की सतह पर प्रदूषक समझी जाती है परन्तु क्षोभमंडल और समतापमंडल में स्थित ओजोन की परत पृथ्वीवासियों के लिए जिनमें मनुष्य के साथ अन्य जीव-जंतु शामिल हैं, “सुरक्षा कवच” का काम करती है। वह सौर विकिरणों के रूप में पृथ्वी की ओर आने वाली पराबैंगनी विकिरणों से रक्षा करता करती है। ध्रुवीय क्षेत्रों के ऊपर लगभग 15 किमी. की ऊंचाई पर और भूमध्यरेखा के ऊपर लगभग 25 किमी. की ऊंचाई पर वायुमंडल में ओजोन की सांद्रता सबसे अधिक लगभग 0.1 भाग प्रति दस हजार भाग है परन्तु यह मात्रा ऊंचाई, अक्षांश और मौसम के अनुसार बदलती रहती है।

ओजोन (O_3) आक्सीजन का ही एक रूप है परन्तु इसके रासायनिक और भौतिक गुण आक्सीजन से कहीं भिन्न हैं। पराबैंगनी किरणों की क्रिया के फलस्वरूप ओजोन का एक अणु आक्सीजन के एक अणु और एक परमाणु में विघटित हो जाता है। पर शीघ्र ही ये दोनों आपस में मिलकर पुनः ओजोन का एक अणु बना लेते हैं। इस प्रकार पृथ्वी से 10 से 60 किमी. की ऊंचाई पर स्थित ओजोन की परत सौर विकिरणों में उपस्थित 200 से 300 नैनोमीटर तरंगदैर्घ्य वाली पराबैंगनी किरणों की जीवन को हानि पहुंचाने वाली ऊर्जा को गर्मी में बदल देती है। परन्तु इनसे बड़ी तरंगदैर्घ्य की पराबैंगनी विकिरण धरती पर पहुंच जाती हैं। मध्य और दीर्घ तरंगदैर्घ्यों वाली पराबैंगनी किरणें हमारी त्वचा को जलाती ही नहीं वरन् उसमें कैंसर और आंखों में मोतियाबिंदु भी उत्पन्न कर सकती हैं तथा प्रतिरक्षा व्यवस्था को भी हानि पहुंचा सकती हैं।

यह ओजोन परत जो समतापमंडल में स्थित होती है ग्रीनहाउस प्रभाव उत्पन्न करती है। अब विनाशकारी रसायनों, विशेष रूप से रिफ्रीजरेंटों, वातानुकूलन उपकरणों, एयरसोल आदि में इस्तेमाल की जाने वाली हेलोजनित हाइड्रोकार्बन गैसों क्लोरोफ्लोरो कार्बन और ब्रोमानित हाइड्रोकार्बन आदि बड़ी मात्रा में वायुमंडल में पहुंच जाने के परिणामस्वरूप समतापमंडल में स्थित ओजोन परत नष्ट हो रही हैं। यद्यपि इनके हानिकारी प्रभावों के कारण संपूर्ण पृथ्वी के ऊपर विशेष रूप से मध्य और उच्च अक्षांशों में, 25 किमी. से कम ऊंचाई पर स्थित ओजोन परत की मोटाई लगभग 10 प्रतिशत प्रति दशक की दर से कम हो रही है परन्तु दक्षिण ध्रुव के ऊपर तो ओजोन परत में “छेद” हो गया है। वहां इसकी मोटाई घटकर 50 प्रतिशत तक ही रह गई है।

समझा जाता है कि ओजोन परत में एक प्रतिशत ह्रास से त्वचा कैंसर के मरीजों की संख्या में एक से तीन प्रतिशत तक की वृद्धि हो जाती है। इस तरह पिछले एक दशक में त्वचा कैंसर की संख्या में 50 प्रतिशत की वृद्धि हो गई है।

इस संबंध में एक विलक्षण तथ्य यह है कि उस समय जब समतापमंडल में स्थित ओजोन की परत का हेलोजनित हाइड्रोकार्बनों, विशेष रूप से क्लोरोनित और ब्रोमोनित हाइड्रोकार्बनों की वजह से तेजी से ह्रास हो रहा है, क्षोभमंडल में स्थित ओजोन की परत की मोटाई बढ़ रही है। इसका कारण है क्षोभमंडल में नाइट्रोजन आक्साइडों, कार्बन मोनोआक्साइड, मीथेन और गैर-मीथेन हाइड्रोकार्बनों की मात्राओं में होने वाली वृद्धि। यद्यपि तत्संबंधित आंकड़ों के अभाव में इन गैसों की मात्राओं की वृद्धि - दर के सही अनुमान नहीं लगाए जा सकते फिर भी समझा जाता है कि पिछले दो दशकों में वायुमंडल में इन गैसों की मात्राओं में 10 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

नाइट्रस आक्साइड : “हंसाने वाली गैस” (लाफिंग गैस) के नाम से मशहूर नाइट्रस आक्साइड

रासायनिक रूप से एक क्रियाशील गैस है जिसकी धरती से, दीर्घ तरंगों के रूप में, आने वाली ऊर्जा को परावर्तित करने की क्षमता काफी अधिक है। यह उन मृदाओं पर जिनमें नाइट्रोजन की मात्रा काफी होती है, सूक्ष्मजीवों की क्रियाओं के तथा बायोमास और जीवाश्म ईंधनों के जलने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। उष्ण कटिबंधों में समशीतोष्ण कटिबंधों की तुलना में मृदा से कहीं अधिक मात्रा में नाइट्रस आक्साइड पैदा होती है।

सागर भी वायुमंडल में नाइट्रस आक्साइड बढ़ाने में मदद देते हैं। वे भी नाइट्रस आक्साइड उत्सर्जित करते रहते हैं। इस बारे में हिंद महासागर का उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र (15 से 25° उत्तर अक्षांशों के बीच में स्थित क्षेत्र) विशेष महत्वपूर्ण है।

कुछ लोगों का मत है कि नायलोन उद्योग भी वायुमंडल में इस गैस की मात्रा बढ़ाने में योग देता है।

पिछले कुछ दशकों में खेती की उपज बढ़ाने के लिए खेतों में दिए जाने वाले रासायनिक उर्वरकों की मात्रा में वृद्धि होने के कारण भी नाइट्रस आक्साइड के उत्पादन में वृद्धि हुई है।

हिमनदियों के बर्फ के विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि लगभग 2000 वर्षों से वायुमंडल में नाइट्रस आक्साइड की मात्रा स्थिर रही। उस समय तक उसकी मात्रा लगभग 285 भाग प्रति एक अरब भाग थी। परंतु सन् 1700 के आसपास इस में वृद्धि होने लगी। औद्योगिकीकरण के बाद इसमें तेजी से वृद्धि हुई और वर्ष 1990 के आसपास वह बढ़कर 310 भाग प्रति एक अरब भाग हो गई। समझा जाता है कि औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप इसमें लगभग 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

ग्रीनहाउस प्रभाव पैदा करने वाली अन्य गैसों की भांति ही इसकी मात्रा उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिणी गोलार्द्ध की तुलना में अधिक है। नाइट्रस आक्साइड की ग्रीनहाउस प्रभाव पैदा करने की क्षमता कार्बन डाइआक्साइड की तुलना में लगभग 200 गुनी है। इसलिए वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड की तुलना में इसकी मात्रा के बहुत कम होने के बावजूद भी ग्रीनहाउस प्रभाव पैदा करने में इसका योग प्रायः 5 प्रतिशत है।

वायुमंडल में नाइट्रस आक्साइड आमतौर से समतापमंडल में एकत्रित होती रहती है। वहां वह प्रकाश-अपघटन (फोटोलायसिस) के परिणामस्वरूप विघटित होती रहती है। इससे वायुमंडल में नाइट्रस आक्साइड घटती भी रहती है। इस प्रकार उसकी अंतिम मात्रा में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हो पाती जिसमें वह वायुमंडल में मिलती है।

नाइट्रस आक्साइड के अणुओं की, वायुमंडल में बिना विघटित हुए, रहे आने की अवधि लगभग 150 वर्ष है। हेलोजनित हाइड्रोकार्बनों में ऐसे क्लोरीन और ब्रोमीन परमाणु उपस्थित होते हैं जो समतापमंडल में सौर विकिरणों में मौजूद पराबैंगनी किरणों द्वारा मुक्त हो जाते हैं। ये परमाणु केवल ओजोन को विघटित करके उसकी मात्रा को ही कम नहीं करते वरन् पृथ्वी से अंतरिक्ष की ओर परावर्तित होने वाली ऊष्मा को भी अवशोषित कर लेते हैं।

हेलोजनित हाइड्रोकार्बनों का संपूर्ण उत्पादन कारखानों में होता है और ये मुख्यतः रिफ़ीनरेटरी, वातानुकूलन उपकरणों तथा फोम निर्माण में इस्तेमाल होती हैं। इनमें बहुचर्चित क्लोरोफ्लोरो कार्बन (सी.एफ.सी.) भी शामिल हैं। क्लोरोफ्लोरो कार्बन गैसों के अणुओं में कार्बन परमाणुओं के अतिरिक्त केवल क्लोरीन और फ्लोरीन के परमाणु ही मौजूद होते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है : क्लोरोफ्लोरो

कार्बन - 12 (सी.एफ.सी. - 12) और क्लोरोफ्लोरो कार्बन - 11 (सी.एफ.सी. - 11)। सी.एफ.सी. - 12 का रासायनिक सूत्र है CF_2Cl_2 और सी.एफ.सी. - 11 का CFCl_3 वायुमंडल में आज जितनी क्लोरीन मौजूद है उसकी 50 प्रतिशत मात्रा इन्हीं दो पदार्थों से ही आयी है। ये दोनों बहुत बड़ी मात्रा में ऊष्मा को पुनः पृथ्वी की ओर परावर्तित कर देती हैं। दूसरे शब्दों में इनकी ग्रीनहाउस प्रभाव - उत्पादन क्षमता कार्बन डाइआक्साइड की तुलना में क्रमशः 15,800 और 12,400 गुनी है और ये वायुमंडल में बिना विघटित हुए क्रमशः 130 और 65 वर्षों तक मौजूद रह सकती हैं।

उक्त दोनों गैसों का उत्पादन आधुनिक युग में ही आरंभ हुआ है। इसलिए अन्य ग्रीनहाउस गैसों के विपरीत ये प्राचीन बर्फ में मौजूद नहीं हैं परंतु पिछले कुछ दशकों में इनका उत्पादन और इस्तेमाल बहुत तेजी से बढ़ा है। 1990 में वायुमंडल में सी.एफ.सी. - 12 की मात्रा लगभग 470 भाग प्रति एक खरब भाग थी और सी.एफ.सी. - 11 की लगभग 280 भाग प्रति एक खरब भाग। चिंताजनक बात यह है कि वायुमंडल में इनकी मात्राओं में लगभग 4 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि हो रही है।

वैसे अन्य क्लोरोफ्लोरोकार्बनों उदाहरणार्थ सी.एफ.सी. - 114 (रासायनिक सूत्र $\text{C}_2\text{F}_4\text{Cl}_2$) और सी.एफ.सी. - 115 (रासायनिक सूत्र $\text{C}_2\text{F}_5\text{Cl}$) की वायुमंडल को गर्म करने की क्षमता भी काफी उच्च पायी गई है। ये दोनों गैसों, बिना विघटित हुए वायुमंडल में क्रमशः 200 और 550 वर्षों जैसे दीर्घकाल तक रह सकती हैं। इसीलिए इनकी ओजोन क्षमता और वायुमंडल - उष्णन क्षमता महत्वपूर्ण मानी जाती हैं।

एच.सी.एफ.सी. - 22 (रासायनिक सूत्र CHClF_2) एक अन्य हेलोजनित हाइड्रोकार्बन गैस है जो ओजोन का ह्रास तो करती ही है साथ ही क्षोभमंडल में हाइड्रोक्लोरिक मूलक से भी क्रिया करती है।

क्लोरीनयुक्त हाइड्रोकार्बनों की तुलना में ब्रोमीनयुक्त हाइड्रोकार्बनों में ओजोन को विघटित करने की क्षमता और ग्रीनहाउस प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता बहुत अधिक होती है। इस संदर्भ में प्रमुख ब्रोमीनयुक्त हाइड्रोकार्बन हैं हैलोन - 1211, हैलोन - 1301 और मेथिल ब्रोमाइड। निश्चय ही हैलोन - 1211 और हैलोन - 1301 व्यावसायिक नाम हैं। इनके रासायनिक सूत्र क्रमशः CF_2BrCl और CF_3Br हैं जबकि मेथिल ब्रोमाइड का सूत्र है CH_3Br । दोनों हैलों का संपूर्ण उत्पादन कारखानों में होता है और वे मुख्य रूप से अग्निशामक के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं। मेथिल ब्रोमाइड गैस प्राकृतिक रूप से भी पायी जाती है। वह सागरों में होने वाली जैविक क्रियाओं में उत्पन्न होती है।

हैलोन - 1301 की ग्रीनहाउस प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता कार्बन डाइआक्साइड की तुलना में 16,000 गुनी है और वह 77 वर्षों तक वायुमंडल में विघटित हुए बिना रही आती है।

मानवजन्य क्रिया-कलापों के फलस्वरूप वायुमंडल में उक्त ब्रोमीन यौगिकों की मात्रा तेजी से बढ़ रही है। गुब्बारों से किए गए अध्ययनों से पता चला है कि 1982 में हैलोन - 1211 की, वायुमंडल में मात्रा 1.03 भाग प्रति एक खरब भाग थी जो 1984 में बढ़कर 1.49 भाग प्रति एक खरब भाग हो गई। इसी प्रकार वायुमंडल में हैलोन - 1301 की मात्रा 1987 में 1.25

भाग प्रति एक खरब भाग थी जो 1990 में बढ़कर 2.0 भाग प्रति एक खरब भाग हो गई।

ये गैसें सीधी ऊपर उठती हैं और 25 किमी. की ऊंचाई तक पहुंचते-पहुंचते विघटित होकर ब्रोमीन परमाणु मुक्त कर देती हैं। ये ब्रोमीन परमाणु ओजोन के साथ क्रिया करके उसे विघटित कर देते हैं। यदि इनके साथ क्लोरीन के परमाणु भी मिल जाते हैं तब ओजोन का विघटन कम ऊंचाईयों पर ही तथा बहुत तेजी से होने लगता है।

परिणाम

ग्रीनहाउस प्रभाव दिन - प्रतिदिन बढ़ रहे हैं और यदि उन्हें रोकने हेतु शीघ्र ही, उपयुक्त, उपाय नहीं किए गए - कठोर कदम नहीं उठाए गए - तब उनके दुष्परिणाम बढ़ते ही जाएंगे। धीरे-धीरे वे इतने अधिक घातक हो जाएंगे कि मनुष्य का संपूर्ण अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा।

ग्रीनहाउस प्रभाव का सबसे स्पष्ट और कदाचित् सबसे सर्वव्यापी और भयंकर दुष्परिणाम है वायुमंडल का निरंतर गर्म होते जाना। वर्षों तक गहन अध्ययनों के बाद वैज्ञानिकों ने यह पाया कि भूमंडल का ताप निश्चय ही बढ़ रहा है। 19वीं शताब्दी के मध्य से लेकर अब तक भूमंडल के ताप में 0.5° सै. की वृद्धि हो गई है और यदि हालात यही रहे तब हर दशक में भूमंडल के ताप में 0.2 से 0.5° सै. तक की वृद्धि हो सकती है और इक्कीसवीं सदी के मध्य तक भूमंडल का ताप 2 से 5° सै. तक बढ़ जाएगा। यह ताप वृद्धि उपध्रुवीय क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक होगी। वैसे 1980 के दशक में भूमंडल का ताप जितना अधिक होगा था उतना पहले कभी नहीं हुआ था।

भूमंडल की जलवायु के निरंतर गर्म होते जाने के संभावित दुष्परिणाम होंगे - बहुत बड़े क्षेत्रों में सूखा पड़ना, वनों का सूख जाना, धरती में दरारें पड़ जाना, वन्य प्राणियों का विनाश हो जाना और ग्रीनलैंड और अंटार्कटिका की बर्फ का पिघलना, सागर की सतह का ऊंचा उठ जाना, आदि। जलवायु के गर्म होते रहने से सूखों की विकरालता में वृद्धि हो जाएगी और वे पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में जल्दी-जल्दी आने लगेंगे। और वन सूख जाएंगे। ऐसा भी हो सकता है कि वनों का स्वरूप ही बदलने लगे। इससे उनमें वन्य प्राणियों का रहना दूभर हो जाए। उन्हें अन्य प्रदेशों में जाना पड़े अथवा वे नष्ट हो जाएं। इनके साथ ही चक्रवात और टोरनेडो अधिक विनाशकारी हो जाएंगे। शीत प्रदेशों, विशेष रूप से टुंड्रा, की बर्फ पिघलने लगेगी जिससे वहां बड़े-बड़े दलदलमय क्षेत्र बन जाएंगे। उन क्षेत्रों में कार्बन डाइआक्साइड और मीथेन अधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगेगी जिसके फलस्वरूप ग्रीनहाउस प्रभाव भी तीव्रतर हो जाएंगे।

भूमंडल के उष्णतर हो जाने के कुप्रभाव पृथ्वी के 71 प्रतिशत भाग को घेरे सागरों पर भी पड़ेंगे। उनका पानी गर्म होकर फैलने लगेगा। साथ ही जलवायु के अधिक गर्म हो जाने से ग्रीनलैंड और अंटार्कटिका में जमी बर्फ पिघलने लगेगी। उससे बनने वाली जल की विशाल मात्रा भी सागरों में मिल जाएगी। परिणामस्वरूप सागरों की सतह ऊंची उठ जाएगी जिससे निचले तटीय प्रदेश पानी में डूब जाएंगे। बांग्लादेश जैसे निचले क्षेत्रों के अधिकांश भाग जलमग्न हो जाएंगे।

भूमंडल के गर्म होते जाने के परिणामस्वरूप पिछली एक शताब्दी में संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी तट पर सागर-सतह एक फुट ऊंची हो गई है और अगले सौ वर्षों में उसके एक फुट और ऊंचे उठ जाने की संभावना है। उसके फलस्वरूप ही काफी बड़े तटीय क्षेत्रों के डूबने की आशंका हो जाएगी।

अब सोचिए कि अगर ग्रीनलैंड की बर्फ छत्रक (आइसकैप) के पिघलने से सागर के जल का स्तर लगभग 6 मीटर ऊंचा उठ जाता है तब क्या हालत होगी? ऐसा वास्तव में यदि हो जाता है तब हमारे देश के भी अनेक तटीय क्षेत्र और बंदरगाह डूब जाएंगे। हालैंड जैसे देश तो जहां इस समय भी सागर को रोकने के लिए दीवार (डाइक) बनानी पड़ती है, शायद पूरे के पूरे जलमग्न हो जाएं।

कुछ वैज्ञानिकों का यह भी अनुमान है कि भूमंडल के ताप में बढ़ोत्तरी के फलस्वरूप ग्रीनलैंड और अंटार्कटिका के बर्फ छत्रक पिघलने के स्थान पर और बढ़ जाएंगे। इस बारे में वे यह तर्क देते हैं कि भूमंडल के ताप में वृद्धि होने से वायुमंडल की जलवाष्प को वहन करने की क्षमता बढ़ जाएगी। इसलिए ध्रुवीय क्षेत्रों में अधिक हिमपात होने लगेगा। परिणामस्वरूप जहां एक ओर सागरों में जल स्तर नीचे गिर जाएगा वहां दूसरी ओर ध्रुवीय प्रदेशों में अधिक बर्फ जमने लगेगी।

उक्त दलील में छिद्धान्वेषण करने वाले लोगों का मत है कि भूमंडल के ताप में वृद्धि होने से सागरों के पानी का ताप भी ऊंचा उठ जाएगा और वह ध्रुव प्रदेशों की कगारों पर जमी बर्फ को पिघला देगा जिससे सागरों में पानी का स्तर और अधिक ऊपर उठ जाएगा।

भारत की जलवायु पर प्रभाव

वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों की सांद्रता में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप पृथ्वी के हर क्षेत्र की जलवायु समान रूप से उष्णतर नहीं हो रही है। कहीं वह अपेक्षाकृत अधिक उष्ण हो गई हैं और कहीं कम। निश्चय ही उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों की जलवायु के उष्णतर होने का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। उष्ण कटिबंधों में 1।8 देश और इलाके आते हैं। ये अधिकांशतः विकासशील देश हैं। इनमें हमारा देश भारत भी शामिल है।

भारत के लिए ग्रीनहाउस गैसों की सांद्रता में वृद्धि के प्रभावों का आकलन करना कठिन नहीं है क्योंकि यहां मौसम का दैनिक अवलोकन करने और प्राप्त आंकड़ों का विश्लेषण करने की परंपरा काफी पुरानी है। पिछले 90 वर्षों (सन् 1901 से 1989 तक) के मौसम संबंधी आंकड़ों के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि इस दौरान औसत वार्षिक ताप में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है। इस दौरान वायुमंडल के ताप में लगभग 0.4° सै. की वृद्धि हुई है। ताप में यह वृद्धि हर ऋतु में एक-समान नहीं है। मानसून-पूर्व (मार्च-मई) महीनों में यह वृद्धि आमतौर से 0.4° सै. रहती है। मानसून के महीनों में (जून से सितंबर तक) ताप बढ़ने की बजाय घटने लगता है (औसत हास 0.3° सै.) जबकि दिसंबर से लेकर फरवरी तक वृद्धि 0.7° सै. जैसी अधिक हो जाती है। साथ ही देश के कुछ भागों में यथा पश्चिमी तट, दक्षिणी प्रायद्वीप के आंतरिक भाग, देश के उत्तर-मध्य और उत्तर-पूर्व भागों में ताप वृद्धि बहुत कम अथवा बिल्कुल भी नहीं होती। इस बारे में विलक्षण बात यह है कि सन् 1940 के बाद के दशक में उत्तरी गोलार्द्ध के ताप में होने वाली कमी भारत में नहीं हुई।

देश के विभिन्न भागों में स्थित 25 मौसम अवलोकन केंद्रों द्वारा 81 वर्षों (सन् 1875 से 1955 तक) एकत्रित आंकड़ों के विश्लेषण से पता चला है कि भारत में होने वाली वर्षा की मात्रा में कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हो रहा है यद्यपि कहीं-कहीं किसी वर्ष सूखा पड़ जाता है तो किसी वर्ष अतिवृष्टि हो जाती है। यहां न तो किसी क्षेत्र में वर्षा की मात्रा में स्थायी रूप से कमी होते जाने के आसार नजर आए हैं और न ही वृद्धि के। विश्व के अनेक संस्थानों में विभिन्न मॉडलों की मदद से

सुपर कम्प्यूटरों द्वारा आने वाली शताब्दी में, भारत की जलवायु में होने वाले संभावित परिवर्तनों के बारे में जो अनुमान लगाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं :

(1) इक्कीसवीं सदी में, वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा बढ़ जाने से, ग्रीनहाउस प्रभाव के कारण भारत की जलवायु भी कुछ गर्म हो जाएगी। वायुमंडल के ताप में सबसे अधिक वृद्धि (3.5° से. से अधिक) भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी इलाके में होगी। पर अरब सागर और बंगाल की खाड़ी की ताप वृद्धि होगी लगभग 2.5° से.।

(2) वायुमंडल के ताप में वृद्धि होने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव वर्षा के वितरण पर पड़ सकता है। वायुमंडल के उष्णतर होते जाने से मानसून द्रोणी के उत्तर की ओर सरक जाने की संभावना है। यदि ऐसा हो गया तब भारतीय उपमहाद्वीप पर होने वाली वर्षा की मात्रा में वृद्धि हो सकती है। यह वृद्धि 6 मिमी. प्रति मास जैसी हो सकती है। सबसे अधिक वृद्धि के मध्य भारत क्षेत्र में होने की संभावना है।

सर्दी की ऋतु में होने वाली वर्षा की मात्रा में वृद्धि हो सकती है। सबसे अधिक वृद्धि भारत के पूर्वी तट पर होगी।

(3) बंगाल की खाड़ी में चक्रवात उस समय पैदा होते हैं जब सागर सतह का ताप 27° से. या अधिक होता है। वायुमंडल के ताप में वृद्धि हो जाने से बंगाल की खाड़ी में सतह के पानी के ताप के बढ़ जाने की संभावना है। इसके फलस्वरूप अधिक विनाशकारी चक्रवातों के पैदा होने की संभावना बढ़ जाएगी।

(4) वायुमंडल के ताप में वृद्धि होने के प्रभाव हमारे निकटवर्ती सागरों पर भी पड़ेंगे। समझा जाता है कि भारत के वायुमंडल के ताप में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप, वर्ष 2080 के आसपास तक अरब सागर में जल स्तर काफी ऊंचा उठ जाएगा। जल स्तर के केरल के तट पर सबसे कम (18 सेमी.) और गुजरात के तट पर सबसे अधिक (21 सेमी.) तक ऊपर उठ जाने की संभावना है।

(4) वायुमंडल के ताप में वृद्धि होने के प्रभाव हमारे निकटवर्ती सागरों पर भी पड़ेंगे। समझा जाता है कि भारत के वायुमंडल के ताप में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप, वर्ष 2080 के आसपास तक अरब सागर में जल स्तर काफी ऊंचा उठ जाएगा। जल स्तर के केरल के तट पर सबसे कम (18 सेमी.) और गुजरात के तट पर सबसे अधिक (21 सेमी.) तक ऊपर उठ जाने की संभावना है।

प्रदूषण के अन्य प्रभाव

मनुष्य ने अनजाने ही मौसम में और भी हस्तक्षेप कर दिए हैं। शहरों, विशेष रूप से महानगरों में गगनचुंबी अट्टालिकाएं बनाकर उसने पवनों के प्रवेश में रुकावटें उत्पन्न कर दी हैं और वायुमंडल के ताप को बढ़ाने में सहायता दी है। समझा जाता है कि आकाश को छूती इमारतों के कारण महानगरों को अपने निकटवर्ती क्षेत्र की तुलना में 25 प्रतिशत कम हवा मिलती है और सर्दियों के दिनों में उनका ताप $1-2^{\circ}$ से. ताप अधिक हो जाता है।

शीत ऋतु में कारखानों से निकलने वाले धुएं और मोटरगाड़ियों के एग्जास्ट के कुहरे में मिल जाने के फलस्वरूप बनने वाले धूम-धुंध के परिणाम बहुत भयंकर हो सकते हैं। ठंडे देशों के महानगरों में अक्सर ही धूम-धुंध छा जाती है। समझा जाता है कि मैनचेस्टर (इंग्लैंड) जैसे औद्योगिक महानगर में धूम-धुंध के कारण शीत ऋतु में दिन का प्रकाश 30 मिनट कम मिलता है, धूप 45 मिनट कम मिलती है और सूर्य से आने वाली पराबैंगनी किरणों की मात्रा 50 प्रतिशत कम।

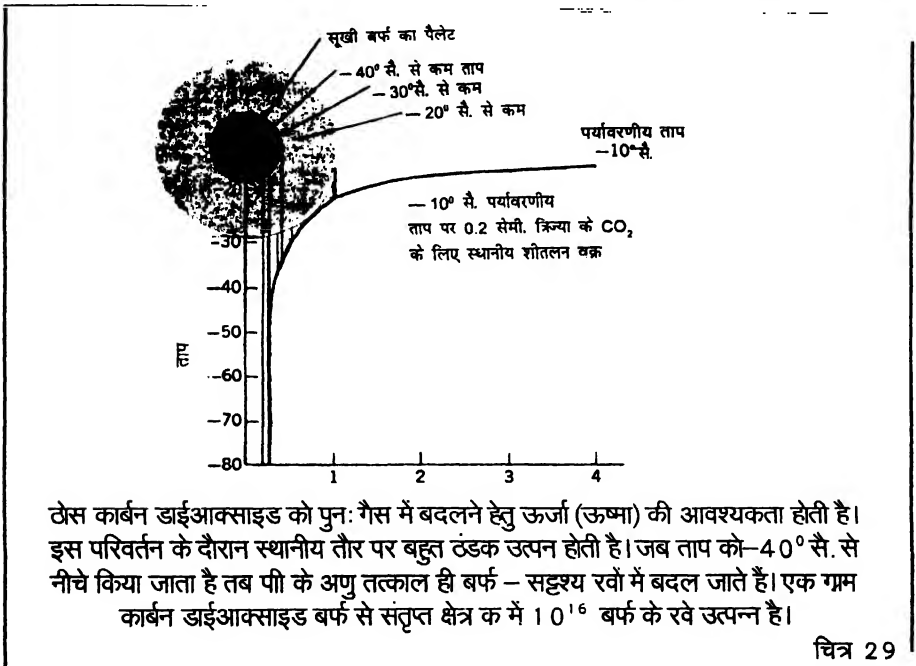
अम्ल वर्षा : अम्ल वर्षा का भी एक मुख्य कारण है प्रदूषण। अम्ल वर्षा से तात्पर्य उस वर्षा से होता है कि जिसमें कार्बन डाइआक्साइड के अतिरिक्त सल्फर डाइआक्साइड तथा नाइट्रोजन की

आक्साइड भी घुली हुई होती है। इन गैसों की क्रियाओं के फलस्वरूप सलफ्यूरिक और नाइट्रिक एसिड बन जाते हैं। उपर्युक्त वस्तुएं मुख्य रूप से कारखानों से उच्छिष्टों के रूप में निकलती हैं।

अम्ल वर्षा में दो रासायनिक क्रियाएं साथ-साथ होती हैं। इनमें से एक में हाइड्रोजन आयन उत्पन्न होते हैं और दूसरी में उनका उदासीनीकरण होता है।

औद्योगिक रूप से प्रगतिशील देशों में अम्ल वर्षा होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस वर्षा से जल स्रोत प्रदूषित हो जाते हैं। फलस्वरूप जल में रहने वाले जीवों को बहुत हानि पहुंचती है। साथ ही अम्ल वर्षा से जंगल भी नष्ट हो जाते हैं। बताया जाता है कि जर्मनी के अधिकांश जंगलों के नष्ट हो जाने का कारण अम्ल वर्षा ही है।

इस वर्षा से इमारतों को भी काफी हानि पहुंचती है। चूनापत्थर, सल्फर डाइआक्साइड से क्रिया करके जिप्सम में बदल जाता है। बाद में जिप्सम में दरारें पड़ जाती हैं और वह घुलने लगता है।



वेस कार्बन डाइआक्साइड को पुनः गैस में बदलने हेतु ऊर्जा (ऊष्मा) की आवश्यकता होती है। इस परिवर्तन के दौरान स्थानीय तौर पर बहुत ठंडक उत्पन्न होती है। जब ताप को -40° से. से नीचे किया जाता है तब पी के अणु तत्काल ही बर्फ - सट्टश्य रवों में बदल जाते हैं। एक ग्राम कार्बन डाइआक्साइड बर्फ से संतृप्त क्षेत्र क में 10¹⁶ बर्फ के रेवे उत्पन्न है।

चित्र 29

हिंद महासागर के ऊपर धुंध : कुछ वर्ष पहले वैज्ञानिकों को पता चला था कि सर्दी की ऋतु में हिंद महासागर के बहुत बड़े भाग पर गहरी धुंध छा जाती है। बंगाल की खाड़ी और अरब सागर से लेकर भूमध्यरेखा के दक्षिण तक, लगभग 38 लाख वर्ग मील क्षेत्र में, फैलने वाली धुंध सागर सतह से लगभग 10,000 फुट के ऊपर छाती है। वैज्ञानिकों का मत है कि कथई रंग की इस धुंध में मुख्य रूप से काजल और गंधक के कण होते हैं। ये पदार्थ भारतीय उपमहाद्वीप, चीन और दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के कारखानों से उच्छिष्टों तथा मोटर वाहनों के एग्जास्ट के रूप में निकलते हैं। सर्दी की ऋतु के आरंभ में उत्तर-पूर्व दिशा से आने वाली नानसून पवन इन्हें उड़ाकर अपने साथ ले आती हैं और हिंद महासागर के ऊपर छोड़ देती हैं। यहां यह धुंध सर्दी भर छाई रहती है पर वसंत

ऋतु के अंत में जब गर्मी की मानसून पवन हिंद महासागर से दक्षिण पूर्वी एशिया की ओर बहना आरंभ करती हैं तब वे इसे उड़ाकर पुनः थल पर ले आती हैं। यहां यह वर्षा के साथ धरती पर आ जाती है। निश्चय ही यह वर्षा धुंध के हानिकारी तत्वों से युक्त होती है जो हर स्थिति में हानिकारी होती है।

ऐसी अम्ल वर्षा केवल थल पर ही नहीं वरन् सागर पर भी हो सकती है और समुद्री जीव-जंतुओं को भी हानि पहुंचा सकती है।

इस धुंध के प्रभाव दक्षिण-पूर्वी एशिया की जलवायु पर तो पड़ेंगे ही, वे संपूर्ण विश्व की जलवायु पर भी पड़ सकते हैं। यह धुंध सौर किरणों को वापस अंतरिक्ष की ओर परावर्तित करके उन्हें धरती तक पहुंचने से रोक सकती है। अनुमान लगाया गया है कि यह धुंध लगभग 10 प्रतिशत सौर ऊर्जा को हिंद महासागर तक पहुंचने से रोक सकती है। ऐसा हो जाने पर हिंद महासागर से वाष्पित होने वाले पानी की मात्रा भी कम हो सकती है। दूसरे शब्दों में गर्मी की मानसून से होने वाली वर्षा की मात्रा भी कम हो सकती है।

दूसरी ओर यह भी अनुमान लगाया जा रहा है कि धुंध में काजल के कणों के काफी मात्रा में मौजूद होने से वह सौर ऊष्मा की काफी बड़ी मात्रा को अवशोषित कर सकती है। इसके परिणामस्वरूप वह धरती की ओर अधिक मात्रा में ऊष्मा विकिरित करेगी। इस स्थिति में उसके साथ ग्रीनहाउस गैसों के मिल जाने से धरती की ओर आने वाली ऊष्मा की मात्रा में और वृद्धि हो जाएगी।

कृत्रिम वर्षा

आप पढ़ चुके हैं यद्यपि पृथ्वी पर होने वाली औसत वर्षा की मात्रा काफी अधिक है परंतु पृथ्वी के हर क्षेत्र पर पानी समान मात्रा में नहीं बरसता। इसीलिए कुछ क्षेत्र वर्षा की अधिकता से तंग रहते हैं तो कुछ उस की कमी के कारण त्राहि-त्राहि करते रहते हैं। इस संबंध में विचित्र बात यह है कि कुछ क्षेत्रों पर से वर्षा करने वाले बादल सदैव गुजरते रहते हैं परंतु वहां एक बूंद भी पानी नहीं बरसाते। ऐसे क्षेत्रों में वर्षा के लिए सब अनुकूल परिस्थितियां नहीं जुट पातीं। इसीलिए वहां पानी नहीं बरस पाता और वे मरुस्थल बन जाते हैं। हमारा राजस्थान भी एक ऐसा ही क्षेत्र है।

ऐसे क्षेत्रों के निवासियों के दिल में एक बात हमेशा से कचोटती रही है “काश! हम किसी भी तरीके से हमारे ऊपर से गुजरने वाले बादलों को पानी बरसाने के लिए मजबूर कर पाते।” इसीलिए प्राचीन भारतीयों ने वर्षा के देवता इन्द्र की पूजा-उपासना आरंभ की थी और यज्ञ आदि करने आरंभ किए थे। उनका विश्वास था कि ऐसा करने से वर्षा हो सकती थी।

अन्य देशों में भी प्राचीन काल में वर्षा के देवता को प्रसन्न करने के लिए भांति-भांति के उपाय किए जाते थे। जब कभी अवसरवश वर्षा हो जाती थी तब समझा जाता था कि देवता ‘प्रसन्न’ हो गए।

आधुनिक युग के आरंभ हो जाने पर भी बादलों को अपना पानी त्यागने के लिए प्रेरित करने हेतु प्रयत्न किए गए। निश्चय ही ये प्रयत्न पूजा-अर्चना के रूप में नहीं थे वरन् यंत्रों की मदद किए गए उपाय थे। वर्ष 1838 में पेंसिलवेनिया (संयुक्त राज्य अमेरिका) में लंबे समय से चले आ रहे सूखे को समाप्त करने के लिए जेम्स एस्पी नामक व्यक्ति ने लकड़ी जलाकर आग की ऊंची-ऊंची लपटें उठाने की बात सुझाई थी। उसका मत था कि आग जलाने से हवा गर्म होकर ऊपर उठेगी,

बादल बनाएगी और अंततः वर्षा हो जाएगी। पर ऐसा हुआ नहीं। वर्षा नहीं आयी।

इन उपायों के सिलसिले में कदाचित् पहला गंभीर उपाय अमेरिका के ही डेनियल रगल्स द्वारा 1880 में किया गया। उन्होंने एक गुब्बारे में विस्फोटक पदार्थ भरकर उसे उड़ाया और एक विद्युत उपकरण की मदद से उसे विस्फोटित कर दिया। भाग्यवश उसी समय वर्षा की बौछार भी आ गई। इस संबंध में मजेदार बात यह है कि इस क्रिया के बारे में वर्ष 1880 में डेनियल रगल्स का एक लेख साइंटिफिक अमेरिकन पत्रिका में प्रकाशित भी हुआ था और उन्हें उनकी इस युक्ति पर पेटेंट भी प्रदान किया गया था।

उक्त घटना के कुछ वर्ष बाद रिफ्रीजरेशन द्वारा वर्षा कराने के प्रयत्न भी किए गए। इस विधि को सुझाने वाले सज्जन का मत था कि अत्यधिक संपीड़ित गैसों को शीघ्रता से वाष्पित करने से वायुमंडल एकाएक ठंडा हो जाएगा। इसके परिणामस्वरूप वायुमंडल में मौजूद वाष्प पानी में बदल जाएगी।

बीसवीं सदी के आरंभ हो जाने पर मौसमवैज्ञानिकों ने वर्षा कराने के बारे में अपनी परिकल्पनाओं को पहले प्रयोगशाला स्तर पर परखना बेहतर समझा। उस समय तक विज्ञापन ने भी बहुत प्रगति कर ली थी। इसलिए प्रयोगशाला में "मौसम का निर्माण" करना संभव हो पाया था। इस प्रकार के प्रयोगों में कदाचित् अत्यंत सनसनीखेज उपलब्धि थी जुलाई, 1946 में जनरल मोटर कंपनी (संयुक्त राज्य अमेरिका) के डा. विन्सेंट शल्फर और इरविंग लैंगम्यूर द्वारा प्रयोगशाला में बादलों में बर्फ निर्माण कराने में सफलता प्राप्त करना। बादलों को अपना पानी त्यागने के लिए प्रेरित करने की उनकी विधि काफी तर्कसंगत पर सरल थी। यह विधि थी अतिशीतित (सुपरकूल्ड) बादलों में किसी ऐसे पदार्थ को प्रविष्ट कराना जो बर्फ के रवे बना सके। इस कार्य के लिए दो पदार्थ उपयुक्त पाए गए सिल्वर आयोडाइड और ठोस कार्बन डाइआक्साइड। सिल्वर आयोडाइड की क्रिस्टलीय संरचना प्राकृतिक बर्फ के क्रिस्टलों के सदृश्य होती है। इसलिए वह बर्फ जमने के लिए उपयुक्त नाभिक का कार्य करती है। ठोस कार्बन डाइआक्साइड जिसे "सूखी बर्फ" भी कहते हैं, इतनी ठंडी होती है कि वह जलवाष्प को छोटे-छोटे बर्फ कणों में परिवर्तित कर देती है।

उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों में बर्जसन - फिन्डीसन सिद्धांत के अनुसार अंततः वर्षा होनी चाहिए। वैसे कृत्रिम वर्षा के प्रयोगों में सिल्वर आयोडाइड को हवाई जहाज से, धुआं के रूप में, बादलों पर छिड़का जाता है। सूखी बर्फ को भी हवाई जहाज से टिकिययाओं के रूप में बादलों पर छिड़का जाता है।

इन प्राथमिक प्रयोगों के बाद कृत्रिम वर्षा के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई परंतु अब भी उसमें सफलता मिलने के अवसर उतने ही हैं जितने अंधेरी रात में काले कौवे के शिकार में। आज भी इस विषय में अनेक ऐसी शंकाएं हैं जिनके समाधान उपलब्ध नहीं हैं - ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर नहीं मिल रहे हैं। इस बारे में अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि कुछ बादल ऐसे होते हैं जिन पर "उपयुक्त परिस्थितियों" में प्रयोग करने से कृत्रिम रूप से वर्षा हो सकती है। विचित्र बात यह है कि ये प्रयोग शीत ऋतु में बनने वाले बादलों पर अधिक सफल हुए हैं। प्रयोग की सफलता के रूप में कोलोरेडो में हिमपात में 10 से 30 प्रतिशत तक की वृद्धि तथा आस्ट्रेलिया और इजरायल में, वर्षा की मात्रा में 10 से 20 प्रतिशत की वृद्धि के उदाहरण अकसर दिए जाते हैं।



मौसम को प्रभावित करने वाली स्थानीय पवनें

काराबुरान : मध्य एशिया की गर्म धूलभरी, उत्तर-पूर्वी पवन। (तुर्की भाषा में “कारा” का अर्थ है काला और “बुरान” का अर्थ है वातावर्त)

कालवैशाखी : भारत के उत्तर-पूर्वी भाग, मुख्यतः असम, बंगाल, मेघालय तथा बांग्ला देश में, मानसून-पूर्व (मार्च, अप्रैल, मई) प्रचंड वेग से आने वाली पवन। यह अपने साथ वर्षा और ओले भी लाती है। आमतौर से यह दोपहर बाद आती है पर असम में रात को भी बहती रहती है। उत्तर-पश्चिम से आने के कारण यह ‘नारवेस्टर’ (नार्थ वैस्टर) भी कहलाती हैं। अधिकांशतः यह छोटा नागपुर पठार में विकसित होती है।

कोना : पवनई द्वीप के पवनाभिमुख इलाके में, कभी-कभी आ जाने वाली, नम, पवन जो आमतौर से काफी दूर-दूर तक भारी वर्षा कर देती है।

खमसिन : मिश्र देश के ऊपर दक्षिण से आने वाली मरुस्थली गर्म, सूखी, प्रचंड वेगवान, पवन जिसके साथ बड़ी मात्रा में धूल भी आती है। आमतौर से यह अप्रैल से जून तक बहती है।

ग्रेगल : (लैटिन के शब्द “ग्राइरस” पर आधारित) दक्षिणी भूमध्यसागरीय क्षेत्र में, विशेष रूप से ठंड की ऋतु में, बहने वाली पवन।

चिनूक : (“चिनूक” नाम स्थानीय रैड इंडियन जनजाति की भाषा का है) सर्दियों में उत्तर अमेरिका में रॉकी पर्वत से पूर्व की ओर बहने वाली, कोष्ण, सूखी और आमतौर से विक्षोभपूर्ण पवन। रैड इंडियन इसे बहुत पसंद करते थे क्योंकि यह भूमि पर जमी बर्फ को बहुत शीघ्रता से हटा देती है। यदि यह पवन अपने समय से पूर्व आ जाती है तब पौधे समय-पूर्व अंकुरित होने लगते हैं और जंतु उन बालों को त्याग देते हैं जो ठंड से उनकी रक्षा करते हैं।

त्रामोन्तानो : (इतालवी शब्द “त्रामोन्तानो” अर्थात् ‘पहाड़ों के बीच’ पर आधारित) स्पेन के भूमध्यसागरीय तट पर उत्तर से आने वाली ठंडी, सूखी पवन।

पर्गा : आर्कटिक क्षेत्र से साइबेरिया की ओर बहने वाली पवन जिसमें हिमकण और बर्फ के रवे भी मौजूद होते हैं। अत्यंत ठंडी होने के कारण यह साइबेरिया के लोगों के जीवन को और भी असहनीय बना देती है। इसे “चीफ” या “ओल्ड मैन” भी कहा जाता है।

पैम्पेरो : (स्पेनिश भाषा के शब्द “पम्पा” अर्थात् “विशाल मैदान” या “प्रेयरी” पर आधारित) बदन को चीर देने वाली, अत्यधिक ठंडी पवन जो दक्षिण अमेरिका में एंडीज पर्वत से दक्षिण-पश्चिम दिशा में बहती हुई अर्जेन्टाइना के घास के मैदानों, पम्पास, और उरुग्वे पर से होती हुई अंध

महासागर के तट तक चली जाती है।

फॉन : आरंभ में यह नाम आल्प्स पर्वत से नीचे की ओर उतरने वाली कोष्ण, सूखी पवन को दिया गया था जो शांत वायुमंडल-परिस्थितियों में बहती है। पर अब पृथ्वी के किसी भी भाग में पर्वतों से मैदानी भागों की ओर बहने वाली कोष्ण, सूखी, पवन को "फॉन" कहा जाने लगा है। फॉन की कोष्णता, अवतरण के दौरान, विशेष रूप से उस समय जब उसकी नमी, पर्वतों पर वर्षा के रूप में बरस कर समाप्त हो जाती है, रुद्धोष्म संपीडन के तथा नीचे उतरते समय कोष्ण वायु के चूषण के फलस्वरूप होती है।

अनेक व्यक्ति फॉन को सिर दर्द, दिल के दौरे, अवनमन और यहां तक कि आत्महत्या की प्रवृत्ति के लिए भी दोषी मानते हैं। उनका मत है कि फॉन में उपस्थित नमी अथवा 'हानिकारी गैसों' इसके लिए उत्तरदायी हैं। शायद फॉन के आगमन से ताप और नमी में अचानक आ जाने वाले परिवर्तनों के कारण ऐसा होता है।

बर्ग : ("बर्ग" दक्षिण अफ्रीका की भाषा "आफ्रीकान" का शब्द है जिसका अर्थ होता है "पर्वत")।

दक्षिण अफ्रीका के आंतरिक भागों में पर्वतों तथा अपतटीय प्रदेशों से आने वाली गर्म, शुष्क, पवन।

ब्रिकफील्डर : आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्वी भाग में उत्तर-पूर्व से आने वाली बहुत गर्म पवन जो गर्मी में बहती है और अपने साथ धूल और रेत लाती है।

बुरान : (रूसी भाषा में "बुरान", तुर्की में "बोरान") रूस और मध्य एशिया में बहने वाली तेज पवन।

आमतौर से यह ठंड की ऋतु में बहती है और अपने साथ हिम कण भी ले आती है।

बोरा : यूरोप में बालकन प्रदेश के उच्च पठारों से दक्षिण के कोष्ण भागों की ओर बहने वाली अत्यंत ठंडी और तेज, पर्वतीय, पवन जो एड्रियाटिक सागर के तट - ट्रीस्ट से लेकर अल्बानिया की सीमा तक, - के जनजीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है। यह "वायु की अत्यंत विशाल नदी" के भांति बहती है। अनेक बार इसकी गति 100 से 150 किमी. प्रति घंटे तक हो जाती है। थल पर बहने वाली पवन होने के कारण यह सूखी होती है। आदि रूप में बोरा रूस में जन्म लेती है और हंगेरी के पठार को पार करती हुई आल्प्स पर्वत तक पहुंच जाती है। फिर आल्प्स के ढलानों से सागर के निकट स्थित डालमेशियन मैदान में उतर आती है और एड्रियाटिक सागर की ओर बहती है। यह एड्रियाटिक सागर में ऊंची-ऊंची लहरें उत्पन्न कर देती है।

मिस्ट्रल : (लैटिन "मैगीस्ट्राल" - अर्थ "स्वामी पवन") मध्य फ्रांस में, उत्तर या उत्तर-पश्चिम से आने वाली ठंडी, सूखी, अत्यंत वेगवान पवन। जब यह वसंत और शरद ऋतुओं में बरगेंदी से दक्षिण की ओर बहती हुई, लायन्स की खाड़ी क्षेत्र में पहुंचती है, तब विशेष रूप से प्रचंड हो जाती है। प्रथम शताब्दी के यूनानी - र्शनशास्त्री, स्ट्राबो, के अनुसार "यह अत्यधिक शक्तिशाली और भयावह पवन है जो चट्टानों को भी अपने स्थानों से सरका देती है। आदमियों को उनके रथों में से धकेल कर नीचे गिरा देती है; उनकी हड्डी-पसलियां तोड़ देती है और उनके कपड़े उतार देती है।" एक बार मिस्ट्रल, आरलेज में एक मालवाहक ट्रक को 40 किमी. तक धकेलते हुए ले गई थी। भूमध्यसागर के तटीय प्रदेश में यह विशेष रूप से रौद्र रूप धारण कर लेती है।

लेवांतर : ("लेवांत" शब्द से उत्पत्ति; भूमध्यसागर के पूर्वी सिरे पर स्थित थल को "लेवांत" कहा जाता है) भूमध्यसागर के तट के साथ-साथ पूर्व से पश्चिम की ओर - जिब्राल्टर और आसपास

महासागर के तट तक चली जाती है।

फॉन : आरंभ में यह नाम आल्प्स पर्वत से नीचे की ओर उतरने वाली कोष्ण, सूखी पवन को दिया गया था जो शांत वायुमंडल-परिस्थितियों में बहती है। पर अब पृथ्वी के किसी भी भाग में पर्वतों से मैदानी भागों की ओर बहने वाली कोष्ण, सूखी, पवन को "फॉन" कहा जाने लगा है। फॉन की कोष्णता, अवतरण के दौरान, विशेष रूप से उस समय जब उसकी नमी, पर्वतों पर वर्षा के रूप में बरस कर समाप्त हो जाती है, रुद्धोष्ण संपीडन के तथा नीचे उतरते समय कोष्ण वायु के चूषण के फलस्वरूप होती है।

अनेक व्यक्ति फॉन को सिर दर्द, दिल के दौरों, अवनमन और यहां तक कि आत्महत्या की प्रवृत्ति के लिए भी दोषी मानते हैं। उनका मत है कि फॉन में उपस्थित नमी अथवा 'हानिकारी गैस' इसके लिए उत्तरदायी हैं। शायद फॉन के आगमन से ताप और नमी में अचानक आ जाने वाले परिवर्तनों के कारण ऐसा होता है।

बर्ग : ("बर्ग" दक्षिण अफ्रीका की भाषा 'आफ्रीकान' का शब्द है जिसका अर्थ होता है "पर्वत")।

दक्षिण अफ्रीका के आंतरिक भागों में पर्वतों तथा अपतटीय प्रदेशों से आने वाली गर्म, शुष्क, पवन।

ब्रिकफील्डर : आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्वी भाग में उत्तर-पूर्व से आने वाली बहुत गर्म पवन जो गर्मी में बहती है और अपने साथ धूल और रेत लाती है।

बुरान : (रूसी भाषा में "बुरान", तुर्की में "बोरान") रूस और मध्य एशिया में बहने वाली तेज पवन।

आमतौर से यह ठंड की ऋतु में बहती है और अपने साथ हिम कण भी ले आती है।

बोरा : यूरोप में बालकन प्रदेश के उच्च पठारों से दक्षिण के कोष्ण भागों की ओर बहने वाली अत्यंत ठंडी और तेज, पर्वतीय, पवन जो एड्रियाटिक सागर के तट - ट्रीस्ट से लेकर अल्बानिया की सीमा तक, - के जनजीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है। यह "वायु की अत्यंत विशाल नदी" के भांति बहती है। अनेक बार इसकी गति 100 से 150 किमी. प्रति घंटे तक हो जाती है। थल पर बहने वाली पवन होने के कारण यह सूखी होती है। आदि रूप में बोरा रूस में जन्म लेती है और हंगेरी के पठार को पार करती हुई आल्प्स पर्वत तक पहुंच जाती है। फिर आल्प्स के ढलानों से सागर के निकट स्थित डालमेशियन मैदान में उतर आती है और एड्रियाटिक सागर की ओर बहती है। यह एड्रियाटिक सागर में ऊंची-ऊंची लहरें उत्पन्न कर देती है।

मिस्ट्रल : (लैटिन "मैगीस्ट्राल" - अर्थ "स्वामी पवन") मध्य फ्रांस में, उत्तर या उत्तर-पश्चिम से आने वाली ठंडी, सूखी, अत्यंत वेगवान पवन। जब यह वसंत और शरद ऋतुओं में बरगेंदी से दक्षिण की ओर बहती हुई, लायन्स की खाड़ी क्षेत्र में पहुंचती है, तब विशेष रूप से प्रचंड हो जाती है। प्रथम शताब्दी के यूनानी दर्शनशास्त्री, स्ट्राबो, के अनुसार "यह अत्यधिक शक्तिशाली और भयावह पवन है जो चट्टानों को भी अपने स्थानों से सरका देती है। आदमियों को उनके रथों में से धकेल कर नीचे गिरा देती है; उनकी हड्डी-पसलियां तोड़ देती है और उनके कपड़े उतार देती है।" एक बार मिस्ट्रल, आरलेज में एक मालवाहक ट्रक को 40 किमी. तक धकेलते हुए ले गई थी। भूमध्यसागर के तटीय प्रदेश में यह विशेष रूप से रौद्र रूप धारण कर लेती है।

लेवांतर : ("लेवांत" शब्द से उत्पत्ति; भूमध्यसागर के पूर्वी सिरे पर स्थित थल को "लेवांत" कहा जाता है) भूमध्यसागर के तट के साथ-साथ पूर्व से पश्चिम की ओर - जिब्राल्टर और आसपास

के क्षेत्र तक — बहने वाली नम पवन। यह मुख्य रूप से जून से अक्टूबर तक बहती है। कहा जाता है कि यह अफ्रीका के उत्तरी भाग के निवासियों में सिर दर्द और अवनमन पैदा कर देती है।

विलीवाव : अलास्का में पहाड़ों से नीचे की ओर बहने वाली तेज पवन।

शमल : ईराक और ईरान की खाड़ी में गर्मी के ऋतु में बहने वाली गर्म, सूखी और धूलभरी पवन।

सैता एना : गर्म और सूखी पवन जो मोजावे रेगिस्तान से आरंभ होकर, पर्वतों के दरों में से गुजरती हुई दक्षिणी कैलीफोर्निया के तट तक आ जाती है। यह शरद और शीत ऋतुओं में, विशेष रूप से उस समय, बहना आरंभ करती है जब प्रशांत महासागर के प्रतिचक्रवात अपने सामान्य पथ से उत्तर-पूर्व की ओर हट जाते हैं।

बस्टर : आसपास की पवन की तुलना में दक्षिण-पूर्वी आस्ट्रेलिया के तट पर उत्तर से एकाएक आ जाने वाली बहुत तेज और ठंडी पवन जिसके फलस्वरूप ताप, बहुत थोड़े समय (कुछ मिनटों) में ही 10 से 20° सै. तक नीचे गिर जाता है।

सिरोक्को : (अरबी भाषा के शब्द "सुरुक" अर्थात् सूर्योदय से उत्पत्ति)। सहारा से यूरोप की ओर बहने वाली गर्म और सूखी पवन। भूमध्यसागर पार करने के बाद यह कुछ ठंडी हो जाती है और इसमें काफी जलवाष्प भी शामिल हो जाती है। कहा जाता है कि यह लोगों में आलस और मानसिक अपंगता उत्पन्न कर देती है। लोगों में यह इतना अधिक अवनमन पैदा कर देती है कि लोग आत्महत्या तक कर बैठते हैं।

सीस्तां : पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान में, गर्मी के दिनों में उत्तर दिशा से आने वाली अत्यंत वेगवान पवन जिसकी गति 160 किमी. प्रति घंटे तक पहुंच जाती है।

हबूब : (अरबी भाषा का शब्द "हबुब"; अर्थ — "प्रचंड रूप से बहने वाली")। सूडान में बहने वाली शक्तिशाली और गर्म पवन जो रेतीली आंधी में बदल जाती है।

हरमैत्तन : अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी भाग में, सहारा रेगिस्तान से दक्षिण की ओर बहने वाली सूखी, ठंडी, पवन। जनवरी में यह 5° उत्तर अक्षांश तक और जुलाई में 18° उत्तर अक्षांश तक ही आती है। यह उष्णकटिबंध के लोगों को गर्मी से राहत दिलाती है पर यह स्वयं इतनी धूलभरी और सूखी होती है कि वनस्पति को सुखा देती है और लोगों की त्वचा जलाने लगती है।

हेल्म : कुम्बिया में मुख्य रूप से सर्दी के अंत में और वसंत ऋतु में उत्तर-पूर्व की शक्तिशाली और आमतौर से प्रचंड रूप से बहने वाली ठंडी पवन। अत्यधिक झोंकेदार।

परिशिष्ट – ख

बोफर्ट पैमाना

पवन की सामर्थ्य और गति को दर्शाने के लिए ब्रिटिश एडमिरल सर फ्रांसिस बोफर्ट ने वर्ष 1805 में एक पैमाना सुझाया था। इस पैमाने में उन्होंने पवन की गति और पाल वाली नौकाओं के केनवास पर होने वाली उसकी प्रतिक्रिया को 13 वर्गों में बांटा था। उस समय सागर पर पाल वाली नौकाएं ही चलती थीं। इस वर्गीकरण में, जो बाद में “बोफर्ट पैमाने” के नाम से प्रसिद्ध हुआ उस पवन, की गति को जिसमें सागर दर्पण की भांति शांत रहा आता है, ‘1’ माना गया था और अत्यंत प्रचंड चक्रवातीय अंधड़ को जो सागर में बहुत ऊंची और भयानक लहरें उठा देता है तथा जिसे कोई भी पाल “बर्दाश्त” नहीं कर सकता की गति, को 13 ।

अगले वर्ष स्वयं बोफर्ट ने इस पैमाने को संशोधित कर दिया। “सागर की दर्पण जैसी शांत” स्थिति को “शून्य” मान लिया गया और पवन की प्रचंडतम गति को 12 ।

यद्यपि बोफर्ट का सुझाव उत्तम था पर वह नौकाओं के कैप्टन के व्यक्तिगत अवलोकन क्षमता पर आधारित था इसलिए उसे मानक पैमाना नहीं माना जा सकता था। बाद में उसे सागर पर पवन के दृश्य प्रभाव पर आधारित किया गया। इससे वह सागर पर तैरती हुई हर नौका पर समान रूप से लागू हो गया। यह पैमाने आज भी प्रचलित हैं यद्यपि अब पवन की गति मापने हेतु बहुत परिष्कृत और परिशुद्ध उपकरण उपलब्ध हैं।

बाद में थल पर पवन की गति का अनुमान लगाने हेतु भी बोफर्ट पैमाना विकसित किया गया। थलीय बोफर्ट पैमाना पवन की गति और धुएं के उठने, पत्तियों और धूल के उड़ने, पेड़ों की टहनियां टूटने तथा संपूर्ण पेड़ों के उखड़ जाने जैसे दृश्य प्रभावों पर आधारित है। इसमें भी “0” से लेकर “12” तक वर्ग हैं।

थलीय बोफर्ट पैमाना

बोफर्ट संख्या	विवरण	वस्तुओं की स्थिति	भूमितल से 6 मीटर ऊपर पवन गति (किमी./घंटा)
0	शांत	धुआं सीधा उपर उठता है।	1 से कम
1	हल्की वायु	धुएं की अनियमित गति से पवन की दिशा का पता चलता है - पवन दिशा-दर्शक यंत्र से नहीं।	1 से 5
2	मंद समीर	चेहरे पर पवन का अनुभव होता है। साधारण पवन दिशा-दर्शक यंत्र संचालित हो जाता है।	6 से 11
3	धीर समीर	पेड़ों की पत्तियां और छोटी टहनियां हिलने लगती हैं। हल्की ध्वजा लहराने लगती है।	12 से 19
4	अल्पबल समीर	धूल और कागज के टुकड़े उड़ने लगते हैं, पेड़ों की छोटी शाखाएं हिलने लगती हैं।	20 से 29
5	सबल समीर	पत्तियों वाले छोटे वृक्ष हिलने लगते हैं, जलाशयों में छोटी-छोटी लहरें पैदा हो जाती हैं।	30 से 39
6	प्रबल समीर	पेड़ों की बड़ी शाखाएं हिलने लगती हैं; टेलीफोन के तारों में सीटी सी बजने लगती है, छाता लगाने में कठिनाई अनुभव होने लगती है।	40 से 50
7	झंझा सदृश्य	पूरा वृक्ष हिलने लगता है; पवन के विरुद्ध चलने में कठिनाई होती है।	51 से 61
8	झंझा	वृक्षों से टहनियां टूटने लगती हैं, चलने में कठिनाई होती है।	62 से 74
9	प्रबल झंझा	मकानों की हल्की छतें उड़ने लगती हैं, कमजोर मकान क्षतिग्रस्त हो सकते हैं।	75 से 87
10	तूफान	वृक्ष उखड़ जाते हैं और इमारतों को काफी हानि हो सकती है।	88 से 101
11	प्रचंड तूफान	इमारतें बुरी तरह क्षतिग्रस्त होने लगती हैं।	102 से 117
12	हरीकेन	काफी बड़े क्षेत्र में वृक्षों और इमारतों को व्यापक क्षति	118 से अधिक

परिशिष्ट – ग

वायुदाब और ऊंचाई

वायुमंडलीय गैसों पर भी पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव पड़ते हैं। इसीलिए वे दाब डालती हैं। “दाब प्रति इकाई क्षेत्र में पड़ने वाला बल होता है।” किसी क्षेत्र पर पड़ने वाला वायुमंडलीय दाब उस क्षेत्र पर स्थित वायु के ऊर्ध्वाधर स्तंभ के वजन के बराबर होता है। निश्चय ही वह धरती की सतह पर (वैज्ञानिकों के अनुसार समुद्र तल पर) सबसे अधिक होता है क्योंकि वहां वायु के ऊर्ध्वाधर स्तंभ की ऊंचाई सबसे अधिक होती है। वहां एक वर्ग सेमी. क्षेत्र पर वायु लगभग 1.05 किग्रा. दाब डालती है।

किसी स्थल पर वायुमंडलीय दाब को पारे के उस स्तंभ की ऊंचाई के बराबर माना जाता है जिसे उस स्थल पर, वायु संतुलित कर सके। आमतौर पर समुद्र तल पर वायुदाब 760 मिमी. होता है अर्थात् उस तल पर वायु का ऊर्ध्वाधर स्तम्भ पारे के 760 मिमी ऊंचे स्तंभ के तुल्य होता है। पारे का इतना ऊंचा स्तंभ पानी के 10.36 मीटर ऊंचे स्तंभ के तुल्य होता है।

मौसमविज्ञान के क्षेत्र में वायुदाब को मिलीबार में मापा जाता है। एक मिलीबार 1000 डाइन प्रति वर्ग सेमी. के बराबर होता है। “मिलीबार” की शब्दावली में समुद्र तल पर 1013.2 मिलीबार दाब रहता है।

पहली दिसंबर, 1986 से वायुदाब को हेक्टोपास्कलों में मापा जाने लगा है। एक मिलीबार 100 पास्कल के बराबर होता है। पर अधिकांश व्यक्ति अब भी वायु दाब को मिलीबार में ही मापते हैं।

जैसे-जैसे समुद्र तल के ऊपर की ओर जाते हैं, ऊर्ध्वाधर वायु स्तंभ की ऊंचाई घटती जाती है। इसलिए वायु स्तंभ का वजन भी घटता जाता है यानि वायु दाब घटता जाता है। परीक्षणों में पाया गया है कि 10 मीटर ऊंचाई पर। वायु दाब एक मिलीबार घट जाता है। वैसे वायुदाब के घटने की दर पर वायु के ताप और घनत्व के भी प्रभाव पड़ते हैं।

निम्न तालिका में सागर तल से ऊंचाई बढ़ने के साथ वायु दाब के गिरते हुए मान – (मिमी. और मिलीबार दोनों में) दिए जा रहे हैं :

ऊंचाई (मीटर)	मिलीबार	मिमी.
(1)	(2)	(3)
0	1013	760
500	954	716

ऊँचाई (मीटर)	मिलीबार	मिमी.
(1)	(2)	(3)
1000	899	674
1500	846	634
2000	795	596
2500	747	560
3000	701	526
3500	658	494
4000	616	462
4500	577	433
5000	540	405
5500	505	379
6000	471	354
6500	440	330
7000	410	308
7500	383	287
8000	356	267
8500	331	248
9000	307	231
10000	264	198
10500	244	184
11000	226	169
12000	193	145
13000	165	123
14000	141	105
15000	120	90
16000	103	77
17000	87	66
18000	75	56
19000	64	48

ऊंचाई (मीटर)	मिलीबार	मिमी.
(1)	(2)	(3)
20000	55	41
21000	46	35
22000	40	30
23000	34	26
24000	29	22
25000	25	19
26000	21	16
27000	18	14
28000	16	12
29000	14	10
30000	12	9
31000	10	8
32000	8.7	6.5
34000	6.5	4.8
36000	4.8	3.6
38000	3.6	2.7

परिशिष्ट – घ

परिभाषाएं

अपसरण (Divergence) : वायु के किसी क्षेत्र से बाहर की ओर बहने की क्रिया। इसके फलस्वरूप वायु ऊपर से नीचे की ओर गति करने लगती है। नीचे आने वाली वायु आमतौर से कोष्ण और सूखी होती है। इससे प्रतिलोमन हो जाता है अर्थात् ठंडी और भारी वायु की परत गर्म और हल्की वायु की परत के ऊपर स्थित हो जाती है।

अपसरण की क्रिया आमतौर से पहाड़ियों पर अथवा ऊंचे स्थानों पर होती है और इससे साधारणतः मौसम "स्थिर" हो जाता है।

अभिसरण (Convergence) : किसी क्षेत्र में आसपास के क्षेत्रों से पवनओं के आने की क्रिया। ये पवनएं क्षैतिज रूप से बह कर आती हैं। अभिसरण के फलस्वरूप उस क्षेत्र में वायु संचित हो जाती है जो बाद में ऊपरी या निचले क्षेत्रों में वितरित हो सकती है। वायु के ऊपर जाने से वाष्प द्रवीभूत हो सकती है तथा वर्षा हो सकती है। निम्न दाब, अवनमन, चक्रवात आदि अभिसरण के क्षेत्र होते हैं।

अयनांत/संक्रांति (Solstice) : सूर्य की परिक्रमा करने के दौरान पृथ्वी की वह स्थिति जिस में उसकी धुरी का झुकाव, उसकी परिक्रमा के तल पर अधिकतम $23\frac{1}{2}^{\circ}$ होता है। ऐसी स्थिति वर्ष में दो बार 21/22 जून और 22/23 दिसंबर को होती है। जून की स्थिति में उत्तरी गोलार्द्ध सूर्य की ओर झुका हुआ होता है। इसलिए उस समय उस गोलार्द्ध में सबसे अधिक गर्मी होती है तथा दिन सबसे बड़ा होता है। इस स्थिति को "ग्रीष्म अयनांत" कहते हैं। 22/23 दिसंबर को दक्षिणी गोलार्द्ध का झुकाव सूर्य की ओर होता है। इसलिए उस समय उस गोलार्द्ध में सबसे अधिक गर्मी होती है। इस स्थिति को "शीत अयनांत" कहते हैं क्योंकि उस समय उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु होती है।

आमतौर पर यह समझा जाता है कि गर्मी (उत्तरी गर्मी) में पृथ्वी का उत्तरी गोलार्द्ध सूर्य के निकटतम होता है और सर्दी (उत्तरी सर्दी) में वह भाग सूर्य से अधिकतम दूरी पर रहता है। पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। पहली जनवरी के आसपास पृथ्वी का उत्तरी गोलार्द्ध सूर्य के निकटतम होता है और पहली जुलाई के आसपास सबसे दूर। इन दोनों स्थितियों में लगभग 40 लाख किमी. का अंतर होता है परंतु इसके कारण पृथ्वी को सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊर्जा की मात्रा में केवल 7 प्रतिशत की ही कमी होती है।

अल्पकालिक झंझा/झोंका (Squall) : बहुत तेज पवन का एकाएक उठने वाला झंझा जो कुछ मिनट (साधारणतः 1 से 10 मिनट) तक बहने के बाद एकदम शांत हो जाता है। आमतौर से इस प्रकार के झंझे में पवन की गति में बोफर्ट पैमाने के अनुसार कम से कम 3 वर्गों की वृद्धि हो जाती है वह बढ़कर 6 स्तर (24 नॉट) तक या अधिक हो जाती है।

इस प्रकार के झंझे कभी-कभी अत्यधिक विकसित ताप-विक्षोभ के कारण उत्पन्न होते हैं किंतु साधारणतः ये कपासी-वर्षा मेघों में उत्पन्न होने वाले अवरोही वायु प्रवाहों के फलस्वरूप धरती पर पहुंचते हैं। वर्षा के बीच-बीच में आने वाले तेज झंझे इसी प्रकार के होते हैं। अनेक बार ये ठंडी पवन के भी होते हैं।

साधारणतः ये उस समय बह रही पवन के बहने की दिशा में न होकर, किसी दूसरी दिशा में आते हैं।

अवनमन (Depression) : वायुमंडल में ऐसा भ्रमिल जिसके मध्य भाग, केंद्र में, कम दाब रहता है। इस भ्रमिल में, उत्तरी गोलार्द्ध में पवन केंद्र के इर्द-गिर्द वामावर्त दिशा में और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त दिशा में घूमती है। भ्रमिल की तीव्रता पवन की गति के अनुसार मापी जाती है। आमतौर से अवनमन में वह 8.5 से 13.5 मीटर प्रति सैकंड तक होती है।

भारतीय मौसम विज्ञान विभाग द्वारा पवन की गति के अनुसार भ्रमिल को "निम्न दाब क्षेत्र", "अवनमन", "गहरा अवनमन", "चक्रवातीय तूफान", "तीव्र चक्रवातीय तूफान" और "हरीकेन"/"टाइफून" में निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है :

निम्न दाब क्षेत्र 8.5 मीटर/सैकंड

अवनमन 8.5-13.5 मीटर/सैकंड

गहरा अवनमन 14.0-16.5 मीटर/सैकंड

चक्रवातीय तूफान 17.0-23.5 मीटर/सैकंड

तीव्र चक्रवातीय तूफान 24.0-31.0 मीटर/सैकंड

हरीकेन/टाइफून 32.0 मीटर/सैकंड से अधिक

अवरोही पवन (Katabatic Wind) : पर्वत पर ऊपर से नीचे की ओर, चोटी से ढाल की ओर, रात में, विशेष रूप से शांत रात में, बहने वाली पवन। रात के समय पर्वत की चोटियां घाटियों की तुलना में अधिक तेजी से ठंडी होती है। इसीलिए पवन चोटियों से घाटियों की ओर बहने लगती है।

अवरोही पवन उस रात को अधिक प्रबल होती है जब आसमान साफ होता है।

आभामंडल (Halo) सूर्य या चंद्रमा के इर्दगिर्द बनने वाला चमकीला वलय। यह वलय सूर्य या चंद्रमा के प्रकाश के पक्षम मेघों द्वारा अपवर्तन और परावर्तन के फलस्वरूप बनता है। पक्षम मेघों में बर्फ के प्रिज्मीय रवे मौजूद होते हैं।

सबसे अधिक बनने वाला आभामंडल सूर्य/चंद्रमा के इर्दगिर्द 22° त्रिज्या का वलय होता है। कभी-कभी 46° त्रिज्या का भी आभामंडल दिखाई देता है।

सूर्य के इर्दगिर्द निर्मित, भली-भांति विकसित, आभामंडल अंदर की ओर लाल रंग की धारी और बाहर की ओर बैंगनी रंग की धारी दर्शाता है।

चन्द्र आभामंडल प्रायः सौर आभामंडल से कम चमकीला होता है।

आरोही पवन (Anabatic Wind) पर्वत के ढाल से ऊपर की ओर प्रवाहित होने वाली पवन। यह पवन उस समय बहना शुरू करती है जब ढाल की निकटतम वायु उसी ऊंचाई पर स्थित पर भूमि से अधिक दूरी की वायु से धूप के कारण अधिक तेजी से गर्म हो जाती है। गर्म होने

वाली वायु ऊपर उठ जाती है और अपने आसपास की वायु द्वारा प्रतिस्थापित होती है।

आरोही पवन सुबह के समय, धूप निकलने से पहले, अधिक प्रबल होती है।

उपोष्ण उच्च दाब क्षेत्र (Subtropical Highs) उत्तरी और दक्षिणी, दोनों, गोलार्द्धों में 30° और 35° अक्षांशों के बीच के क्षेत्र, जहां भूमध्यरेखिक द्रोणी से ऊपर उठने वाली पवन उतरती है। इन क्षेत्रों में सदैव उच्च दाब बना रहता है। इन क्षेत्रों से ही भूमध्यरेखा की ओर व्यापारी पवन और ध्रुवों की ओर पश्चिमी पवन बहती हैं। ये अपसरण क्षेत्र होते हैं। इनमें वायु की हलचल काफी धीमी और क्षीण होती है।

दक्षिणी गोलार्द्ध का उपोष्ण उच्च दाब क्षेत्र, अधिकांशतः सागर पर स्थित है। इसलिए वह बहुत हद तक एक संतत क्षेत्र है जबकि उत्तरी गोलार्द्ध में वह परिमित और स्पष्ट कक्षों में विभाजित है।

उल्का (Meteor) : मौसमवैज्ञानिकों के अनुसार उल्का में वर्षा, हिमपात, ओले, धुंध, कोहरा, पवन के साथ उड़ने वाले धूल कण, रेत, बर्फ सुई (आइस नीडल), सागर की लहरों से उठने वाली फुहारें तथा मरीचिका, आभामंडल, ग्लोरी, कोरोना, और तडित्, ध्रुवीय ज्योति, सैंट एल्मो की अग्नि आदि भी शामिल होती है।

जल - (Hydro -) : वायुमंडल में से गिरते हुए अथवा उसमें से पवन द्वारा बहाए जाने वाले जल कण। इनमें धुंध (हेज), कुहासा (मिस्ट), कोहरा, वर्षा की फुहार (ड्रिजल), बौछार (शावर), हिमपात, ओले, ओस, पाला (होर फ्रास्ट) आदि शामिल होते हैं।

अश्म - (Litho -) : पवन द्वारा धरती पर से उठाए जाने वाले ठोस पदार्थों के कण जो सबसे निचले वायुमंडल में छितराए रहते हैं। इनमें धूल और रेत के कण, हिम कण, बर्फ सुइयां, समुद्री पानी की फुहार, और लवण के कण, धुआ आदि शामिल होते हैं।

प्रकाश - (Photo -) : सूर्य या चंद्रमा से आने वाले प्रकाश में परावर्तन, अपवर्तन या विवर्तन द्वारा व्यक्तिकरण (इंटरफीयरेंस) के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न दीप्ति अथवा प्रकाशीय परिघटनाएं। निर्मल वायु में ऐसी परिघटनाओं के उदाहरण हैं; मरीचिका, कम्पदीप्ति (शिमर) आदि। आकाश में बादल छाए होने पर ऐसी परिघटनाएं आभामंडल, इंद्रधनुष, कोरोना आदि के रूप में दिखाई देती हैं।

वैद्युत - (Electro -) : तडित् द्वारा वायुमंडल में उत्पन्न विभिन्न परिघटनाएं - यथा तडित् की चमक, मेघों का गर्जन, सैंट एल्मो की अग्नि, ध्रुवीय ज्योति आदि।

ऐल्बिडो (Albedo) : किसी वस्तु द्वारा प्राप्त होने वाले और उस वस्तु द्वारा परावर्तित किए जाने वाले विकिरणों की मात्राओं के बीच अनुपात। आम बोलचाल की भाषा में इसे 'धवलता' भी कहते हैं।

पृथ्वी की औसत ऐल्बिडो (जिसे ग्रहीय ऐल्बिडो भी कहा जाता है) लगभग 30 प्रतिशत है परंतु पृथ्वी के न तो हर क्षेत्र की और न ही हर वस्तु यथा जंगल, घास के मैदान, बर्फ, सागर, रेत आदि की ऐल्बिडो बराबर होती है। वह सूर्य की किरणों के आपतन कोण (जिस कोण पर वे धरती पर पड़ती हैं) के अनुसार भी बदलती रहती है। साथ ही उस पर आकाश के स्वच्छ अथवा मेघाच्छित होने के प्रभाव भी पड़ते हैं। इसीलिए उनका मान भूमध्यरेखा पर कम और ध्रुवीय क्षेत्रों में अधिक होता है। कुछ वस्तुओं के औसत ऐल्बिडो मान इस प्रकार हैं :

वस्तु	ऐल्बिडो और (प्रतिशत)
उष्ण कटिबंधीय वन	21
पतझड़ी वन	18
नुकीले पत्तों वाले वृक्षों के वन (कोनीफरस फॉरेस्ट)	13
घास के मैदान	15
धान्य फसलें	10-25
हरी घास	8-27
घने बादल	70-80
छितराए बादल	25-50
सागर (60-70° अक्षांशों के क्षेत्र में)	7-23
थलीय जल	2-78
हिम	70-90
गीला रेत	30-35
नंगी चट्टानें	12-18

वैसे इन अथवा अन्य वस्तुओं द्वारा परावर्तित की जाने वाली ऊर्जा का अधिकांश भाग वायुमंडल द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है।

ओसांक (Dew Point) : वह ताप जिस पर वायुमंडल में वास्तव में मौजूद जल वाष्प वायु को संतृप्त करने के लिए पर्याप्त हो।

कुछ परिस्थितियों में वायु में जल वाष्प की मात्रा उससे अधिक हो जाती है जो वायु को संतृप्त करने के लिए जरूरी होती है। उस समय वायु को "अति संतृप्त" (सुपर सेचुरेटेड) कहा जाता है।

किरीट/कोरोना (Corona) : मध्यस्तरी मेघों के पीछे, सूर्य अथवा चन्द्रमा के इर्दगिर्द, बनने वाले विभिन्न कोणीय त्रिज्याओं के, भिन्न-भिन्न रंगों के, चमकीले वलय। जल बुंदकियों से होने वाले प्रकाश विवर्तन के फलस्वरूप रंगीन वलयों में नीला वलय बाहर की ओर रहता है और लाल वलय अंदर की ओर।

ग्लेज (Glaze) : बर्फ की संमाग और पारदर्शी जमावट।

ग्लोरी (Glory) : कभी-कभी कोहरे या बादल पर दिखाई देने वाले रंगीन वलय।

घटनाविज्ञान (Phenology) : पादप और जंतुओं के जीवन में समय-समय पर होने वाली घटनाओं यथा, फलों का पकना, अंकुरण, पुष्पन आदि, से संबंधित घटनाएं तथा पक्षियों और कीटों की ऋतुओं से संबंधित गतिविधियों के साथ जलवायु का संबंध दर्शाने वाला विज्ञान।

चक्रवात की आंख (Eye of Storm) : चक्रवात का अंतरतम भाग। वहां वायु दाब निम्न होता है, वायु शांत रहती या बहुत धीमी गति से बहती है। इसके निर्माण का कारण यह है कि चक्रवात में अंतर्मुखी पवन, बहुत तीव्र गति से केन्द्र के चारों ओर तो घूमती हैं परंतु केन्द्र पर अभिसरित

नहीं हो पाती। यह क्रिया ठीक वैसी ही है जैसे कोई उपग्रह केन्द्र की ओर आकर्षित होते हुए भी केन्द्र के इर्द-गिर्द, वृत्ताकार पथ में घूमने को बाध्य होता है। इस प्रकार चक्रवात का केंद्र एक खोखले पाइप की भांति होता है जिसमें पवनएं प्रवेश नहीं कर पाती।

चक्रवात की आंख का व्यास आमतौर से 15 से 30 किमी. तक होता है।

जलीय चक्र (Hydrologic cycle) : सागर से वायुमंडल तथा थल पर से होता हुआ वापस सागर तक जाने वाला जल का परिसंचरण चक्र। जल वापस सागर तक थल पर से बहता हुआ अथवा भूमिगत मार्गों से पहुंचता है। इस निरंतर चलते रहने वाले चक्र में जल अस्थायी रूप से जीवों में तथा ताजे पानी, बर्फीली जमावटों अथवा भूमिगत भंडारों के रूप में जमा होता रहता है।

झंझा (Gale) : लगातार बहने वाली प्रबल पवन जिसकी औसत गति बोफोर्ट पैमाने के अनुसार 7 (33 नॉट) से अधिक होती है। यह पवन आमतौर से आगे बढ़ते हुए चक्रवात से संबद्ध होती है।

ट्यूबा (Tuba) : बादलों की निचली सतह से निकला चाडीनुमा स्तंभ जो टोरनेडो से संबद्ध होता है। अगर इसका निर्माण सागर के ऊपर हो जाता है तब यह सागर के पानी को ऊपर की ओर चूस लेता है। उस दशा में यह जल स्तंभ (वाटर स्पाउट) कहलाता है।

तापीय भंवर (Thermal eddy) : थल की विभिन्न संरचनाओं तथा विभिन्न क्षेत्रों की मृदाओं की ऊष्मा अवशोषण क्षमताओं के भिन्न-भिन्न होने के कारण थल दिन के समय समान रूप से गर्म नहीं होता। उसके कुछ भाग अधिक गर्म हो जाते हैं और कुछ कम। उसी के अनुसार उन भागों के संपर्क में आने वाली हवा भी कम या ज्यादा गर्म होती है। गर्म पवन आसपास की पवन की तुलना में भंवर के रूप में अधिक ऊंची उठ जाती है। ये भंवर ही "तापीय भंवर" कहलाते हैं।

ये भंवर कुछ मीटर से लेकर कई सौ मीटर ऊंचाई तक उठ सकते हैं। आमतौर पर ऊपर उठती हुई वायु के साथ धूल, कागज के टुकड़े, सूखे पत्ते भी तिरने लगते हैं। कुछ जातियों के पक्षी भी, उड़ान के दौरान इन भंवरों का लाभ उठाते हैं।

धूल भरी आंधियां इन भंवरों की ही शक्तिशाली रूप हैं जिनके साथ बड़ी मात्रा में धूल कण, सूखे पत्ते, कागज के टुकड़े आदि उड़ते रहते हैं।

तापीय भूमध्यरेखा (Thermal equator) : पृथ्वी के किस भाग पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं, उसके अनुसार अधिकतम सूर्यातप की पट्टी, भौगोलिक भूमध्यरेखा के उत्तर या दक्षिण में सरकती रहती है। उत्तरी गर्मी में वह कर्क रेखा के निकट और दक्षिणी गर्मी में मकर रेखा के निकट स्थित होती है। अधिकतम सूर्यातप की पट्टी तापीय भूमध्यरेखा कहलाती है।

तापीय दिवस (Thermal day) : भूमध्यरेखा पर प्राप्त होने वाला कुल दैनिक औसत सूर्यातप।

तुहिन (Rime) : भूमि पर स्थित वस्तुओं पर बर्फ के रवों की ऐसी जमावट जिसमें कण एक-दूसरे से अलग-अलग हों।

दृश्यता (Visibility) : आमतौर से वह अधिकतम दूरी जिस पर स्थित वस्तु को स्पष्ट रूप से देखा और पहचाना जा सकता है।

ध्रुवीय ज्योति (Aurora) : ध्रुवीय क्षेत्रों में, रात के समय आकाश में 100 से 1000 किमी.

की ऊंचाई पर दिखायी देने वाला रंग—बिरंगा प्रकाश। विभिन्न आकृतियों में दिखाई देने वाला यह प्रकाश उस समय प्रकट होता है जब ध्रुवीय पवन के आयनित कण, सौर संस्फुरों (सन फ्लेयर) के दौरान, उच्च वायुमंडल में उपस्थित गैसों के साथ अंतःक्रिया करते हैं और चुंबकीय ध्रुवों की ओर आकर्षित होते हैं।

पर्वत तरंग (Mountain wave) : पर्वतीय ढाल पर आरोह और अवरोह के परिणामस्वरूप वायुप्रवाह में तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। इनका क्षैजित तरंगदैर्घ्य 1 से 20 किमी. तक होता है। ये अर्द्धस्थायी गुरुत्व किस्म की तरंगें होती हैं।

इनके फलस्वरूप काफी ऊंचाई तक विक्षोभ तथा ऊर्ध्वाधर वायु धाराएं उत्पन्न हो जाती हैं जो सामान्यतः क्षोभसीमा को पार कर समतापमंडल में जा पहुंचती हैं। ये विक्षोभ पर्वत की ऊंचाई से दूनी ऊंचाई तक प्रभावी होते हैं।

पर्वत समीर (Mountain breeze) : पर्वत की चोटियों से घाटियों की ओर बहने वाली ठंडी, भारी पवन। पर्वत के ऊंचे क्षेत्र रात के समय, विशेष रूप से जब आकाश स्वच्छ होता है, ऊष्मा विकिरित करके, अपेक्षाकृत अधिक ठंडे हो जाते हैं। इससे उनके ऊपर की वायु भी ठंडी हो जाती है और वह घाटियों की ओर बहने लगती है।

सुबह के समय इन क्षेत्रों में धूप जल्दी आ जाती है। इसलिए वे घाटियों की तुलना में अधिक गर्म हो जाते हैं। उस समय पवन घाटियों से पर्वत के ऊंचे क्षेत्रों की ओर बहने लगती है। यह "घाटी" पवन कहलाती है।

फुहार (Drizzle) : ऐसी वर्षा जिसमें बूंदों का आकार 0.5 मिमी से कम हो। आमतौर से वह 0.2 मिमी जैसा होता है। ऐसी वर्षा आमतौर से शांत अथवा बहुत धीमी गति से बहने वाली वायु में गिरती है। वायु की गति के तेज हो जाने से फुहार की बूंदें जमीन पर नहीं गिर पातीं। फुहार साधारणतः स्तरी मेघों द्वारा उत्पन्न होती है। इसकी बूंदों का अंतिम वेग 1.5 मीटर प्रति सैकंड जैसा कम होता है।

कभी-कभी फुहार काफी घनी भी हो जाती है। उन क्षेत्रों में जहां कोष्ण नम पवन पर्वत को पार करने का प्रयत्न करती हैं, निरंतर होते रहने वाली फुहार से एक दिन में 10 मिमी. जैसी वर्षा भी हो सकती है।

ब्लिजर्ड/बर्फानी तूफान (Blizzard) : सर्दी की ऋतु में, ठंडे और पर्वतीय अवनमन के तुरंत बाद पैदा होने वाली बहुत ठंडी और तेज पवन। इसमें हिम के कण भी रहते हैं। ऐसी पवन अंटार्कटिक प्रदेश में, भूतल पर भी बहती हैं। यह बहुत तेज बहती हैं। पर यह भूतल की अत्यंत ठंडी वायु—राशि को विस्थापित करके, कुछ हद तक, ताप बढ़ा देती हैं।

हमारे देश के उत्तरी क्षेत्र में भी, सर्दियों में पश्चिमी विक्षोभों के बाद, दो-तीन दिनों तक ऐसी पवन उत्पन्न हो जाती है। पर यहां उसका कोई विशेष (स्थानीय) प्रभाव नहीं होता।

बायस बुलट नियम (Buys Bullot's Law) : बायस बुलट द्वारा, सन् 1857 में प्रस्तुत किया गया नियम। इसके अनुसार जब पवन प्रेक्षक के पीछे से बह रही होती है तब निम्न दाब उत्तरी गोलार्द्ध में प्रेक्षक की बायीं ओर और दक्षिणी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर रहता है। परिणामस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध में पवन निम्न दाब क्षेत्र (चक्रवात) के इर्द-गिर्द वामावर्त दिशा में और दक्षिणी

गोलाद्ध में दक्षिणावर्त दिशा में घूमती है। उच्च दाब क्षेत्र (प्रतिचक्रवात) के इर्द-गिर्द पवन के घूमने की दिशा इससे उल्टी होती है।

बौछार (Shower) : थोड़े समय तक होने वाली, तेज और बड़ी बूंदों वाली वर्षा। बौछार साधारणतया कपासी या कपासी-वर्षा मेघ ही उत्पन्न करते हैं।

महोर्मि (Surge) : एक ऐसी घटना जिसमें किसी क्षेत्र में आने वाली वायु की गति वहां से बाहर जाने वाली वायु की गति से अधिक होती है। इससे उस क्षेत्र में वायु एकत्रित होती जाती है और वह ऊपर की ओर उठने लगती है।

प्रबल महोर्मि में पवन की गति लगभग दुगनी हो जाती है।

मानसून प्रवाह में महोर्मि की स्थिति उस समय, अकसर पैदा, हो जाती है जब भूमध्यरेखा को पार करके उत्तर की ओर आने वाली पवन की मात्रा काफी अधिक होती है। उस समय भूमध्यरेखा के दक्षिण में पवन की गति अधिक होती है पर उसके उत्तर में कम।

मैमैटस (Mammatus) : बादल, आमतौर से कपासी-वर्षा बादल, की निचली सतह से झूलने वाली झूले जैसी आकृति। प्रबल संवहन धाराओं की द्योतक।

रुद्धोष्म (Adibatic) : वायुमंडल में होने वाले ऐसे ताप परिवर्तन जिनमें न तो बाहर से ऊष्मा प्राप्त की जाती है और न ही उसमें से ऊष्मा की निकासी होती है परंतु वायु का ताप घट या बढ़ जाता है।

जल वाष्प से असंतृप्त वायु के ऊपर उठते समय ताप, रुद्धोष्म तरीके से प्रति 1000 मीटर पर 10° सें. घट जाता है। जब वायु में मौजूद जलवाष्प का द्रवीकरण होने लगता है तब द्रवीकरण की गुप्त ऊष्मा के मुक्त होने के फलस्वरूप वायु के शीतलन की दर घट जाती है। वह लगभग 6° सें. प्रति 1000 मीटर हो जाती है।

वायु राशि (Air mass) : क्षैजित रूप से फैली वायु की मोटी तह जिसके भौतिक गुण यथा आर्द्रता, हास दर आदि, न्यूनाधिक एकसमान होते हैं। वह अर्द्ध स्थायी दाब प्रणाली में पैदा होती है।

विर्गा (Virga) : बादल के निचले भाग से होने वाली ऐसी वर्षा जिसकी बूंदें धरती पर पहुंचने से पहले ही वाष्पित हो जाती हैं।

वृष्टि प्रस्फोट (Cloud burst) : बहुत थोड़ी समयावधि में होने वाली अत्यंत मूसलाधार वर्षा।

ऐसी वर्षा अधिकतर पर्वतीय प्रदेशों में होती है। पर्वतों को पार करते समय बादलों का ताप अकसर गिर जाता है और कोष्ण पवन की पूर्ति रुक जाती है। उस समय ऊपर उठने वाली वायु भी एकाएक रुक जाती है तब वर्षा और ओले बहुत तेजी से गिरने लगते हैं।

वृष्टि प्रस्फोट आमतौर से कपासी-वर्षा मेघों द्वारा होती है।

समदाब रेखा (Isobar) : मानचित्र पर दर्शायी गई वह काल्पनिक रेखा जो उन सब स्थानों को जिनका वायु दाब समान होता है, उस समय, एक साथ जोड़ती है, जब उन्हें एक विशिष्ट ऊंचाई पर, माना जाता है। विशिष्ट ऊंचाई आमतौर पर माध्य समुद्र तल (मीन सी लेवल) मानी जाती है।

समवर्षा रेखा (Isohyet) : उन स्थानों को आपस में जोड़ने वाली काल्पनिक रेखा जिन पर होने वाली वर्षा की औसत वार्षिक मात्रा, बराबर होती है।

सूर्यातप (Insolation/incoming solar radiation) : मौसम प्रक्रमों में प्रत्यक्ष और आकाश विकिरणों के माध्यम से कुल सौर ऊर्जा के प्राप्त होने की दर।

सूर्यातप की अधिकतम संभव अवधि इस प्रकार होती है :

अक्षांश : 0° , 17° , 41° , 49° , 63° , $66\frac{1}{2}^\circ$, 90°

अवधि : 12 घं., 13 घं., 15 घं., 16 घं., 20 घं., 24 घं., 6 महीने

गर्मी में जब आकाश स्वच्छ होता है तब ध्रुवीय क्षेत्रों को, 24 घंटे की अवधि में भूमध्यरेखिक क्षेत्र की अपेक्षा अधिक सौर विकिरण प्राप्त होते हैं। पर धरती को गर्म करने वाले शुद्ध विकिरणों की मात्रा, बर्फ की उच्च ऐन्ड्रिडो (70 से 90 प्रतिशत) के कारण बहुत कम हो जाती है। सौर ऊर्जा में 99 प्रतिशत विकिरण लघु दैर्घ्य तरंग क्षेत्र 0.15 से 40 म्यू होती हैं। इनमें से 9 प्रतिशत पराबैंगनी क्षेत्र (लगभग 0.36 म्यू) 4.5 प्रतिशत दृश्य क्षेत्र (0.36 से 0.76 म्यू) और 46 प्रतिशत अवरक्त क्षेत्र (<0.76 म्यू) में होती है। अधिकतम विकिरण 0.5 म्यू के आसपास की तरंग दैर्घ्यों में होती है (1 म्यू = 10^{-6} मीटर)

सेंट एल्मो की अग्नि (St. Elmo's fire) : रात के समय किसी वस्तु के निकट प्रबल विद्युत क्षेत्र के फलस्वरूप बैंगनी या हरे रंग के पिच्छक (प्लूम) अथवा फुहार के रूप में निरंतर होने वाले विद्युत विसर्जन।

हास दर (Lapse rate) : ऊँचाई के साथ वायुमंडल के ताप के हास की दर। वायुमंडल के निचले भाग में इसका औसत मान 6.5° सें. प्रति किमी. होता है। यह दर दिन के समय, ऋतु, आर्द्रता, भौगोलिक स्थिति और मौसम परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। इसलिए यह "पर्यावरणीय हास दर" कहलाती है।

जब वायु सूखी होती है तब हास दर बढ़ कर लगभग 10° सें. प्रति किमी. हो जाती है परंतु जब वायु जलवाष्प से संतृप्त होती है तब वह घटकर 5° सें. प्रति किमी. हो जाती है।

हिम वृष्टि (Sleet) : यदि वायुमंडल का ताप अधिक होता है तब हिमपात के दौरान भूमि तक पहुंचते-पहुंचते हिम का कुछ भाग पिघल जाता है। इससे हिम और जल एक साथ बरसते हैं।



शब्दावली

अंतः उष्णकटिबंधीय
अभिसरण क्षेत्र

**Intertropical
convergence zone**

अंधड	Dust devil	आरोही	Anabatic
अक्षांश	Latitude	आर्द्र	Humid
अणु	Molecule	आवीक्षण	Reconnaissance
अति दाब	Super pressure	उच्छिष्ट	Waste
अध्यारोपण	Superimposition	उपोष्ण	Subtropical
अपतट	Offshore	— अभिसरण	- convergence
— द्रोणिका	- trough	— उच्च दाब	- high pressure
— पवन	- wind	— जलवायु	- climate
— मात्स्यकी	- fisheries	उत्सर्जन	Emission
अपवाह	Drift	उर्मिका	Ripple
अपसरण	Divergence	उष्ण कटिबंधीय	Tropical
अभतट	Onshore	ऊर्जा	Energy
अभिवहन	Advection	— विकरित	- radiant
अभिवृद्धि	Accretion	ऊर्ध्वाधर	Vertical
अभिसरण	Convergence	ऊष्मा	Heat
अयनांत	Solstice	— गुप्त	- latent
अल्पकालिक झंझा	Squall	— संवेद्य	- sensible
अवतरण	Descent	एकांतर	Alternate
अवतलन	Subsidence	एयरसोल	Aerosol
अवनमन	Depression	ऐल्बिडो	Albedo
अवपंक	Slime	ओला	Hail
अवरक्त	Infra red	ओसांक	Dew point
अवरोही	Katabatic	कर्षण	Drag
अवशोषण	Absorption	क्रमवीक्षण	Scan
अश्व शक्ति	Horse power	कुहरा	Fog
आयनित	Ionized	कुहासा/धुंध	Mist

रंच	Trace	समांतरता	Parallalism
रुद्धोष्म	Adiabatic	समुद्रतटीय	Maritime
अ -	non -	- परिसंचरण	- circulation
- प्रक्रम	- process	- ध्रुवीय वायु	- polar air
- संपीडन	- compression	सम्मिलन	Coalescence
- हास दर	- lapse rate	समीर	Breeze
वात-प्रवाह	Draught	अल्पबल -	- moderate
वाताग्र	Front	जल -	sea -
गर्म -	hot-	थल -	land -
ठंडा -	cold-	धीर -	gentle -
वातावर्त	Whirlwind	प्रबल -	- strong
वामावर्त	Counter clockwise	मंद -	- light
वायुराशि	Air mass	सर्पिल	Spiral
- परिच्छेदिका	- profile	सहिम वर्षा	Sleet
वितरक	Radiator	सांद्रता	Concentration
विकिरण	Radiation	सूखा	Drought
विक्षोभ	Turbulence/ disturbance	सूर्य के धब्बे/सूर्य कलंक	Sun spot
		सूर्यातप	Insolation
विखंडन	Fission	स्थायी तुषार भूमि	Permafrost
विसरण	Diffusion	शीतोष्ण	Temperate
विसर्जन	Discharge	हिम	Snow
विद्युत क्षेत्र	Electric field	- अल्पकालिक	- squall
वृष्टि प्रस्फोट	Cloud burst	- गोली	- pellet
वेग	Velocity	- झंझा	- storm
अंतिम-	terminal -	- द्रवण	- break
संचयी	Cumulative	- पात	- fall
संलयन	Fusion	- पोढ़	- drift
संवहन	Convection	- रेखा	- line
समतापमंडल	Stratosphere	- लव	- flake
समतापसीमा	Stratopause	हिमनदी	Glacier
समांगी	Homogenous	हिमयुग	Ice age